प्रकाशक—

श्रीपन्नालाल बाकलीवाल

महामंत्री—भारतीयजैनसिद्धांतप्रकाशिनी संस्था,

नं० १ विश्वकोषलेन, कलकत्ता ।



मुद्रक—

श्रीराखालचंद्रमित्र

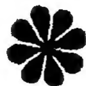
विश्वकोष प्रेस, नं० १ विश्वकोषलेन,

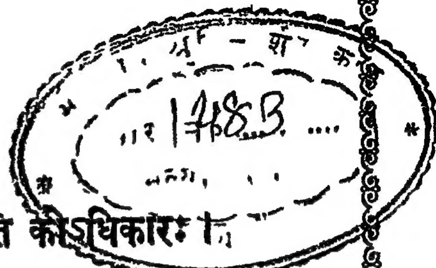
कलकत्ता ।

जिनशास्त्रोंपर जरा भी श्रद्धान नहिं करनेवाले हैं और सुषुप्त हैं-मोहकी गाढ़ निद्रामें गहरी नींद ले रहे हैं उनकेलिये हमारा यह परिश्रम नहीं है-इस आत्मप्रबोध ग्रंथकी रचना हम उनके लिये नहिं करते हैं। किंतु जिनकी मोहरूपी निद्रा बहुत जल्दी नष्ट होनेवाली है-शीघ्र ही जो निर्मोही होनेवाले हैं वे ही इस आत्मप्रबोध ग्रंथके अधिकारी हैं-उन्हींकेलिये यह परिश्रम किया जा रहा है ॥ ६ ॥

जीवस्वरूपमनुरूपकमस्य चिह्नं
त्यागोऽथ शश्वदहितस्य हिते प्रवृत्तिः ।
योग्यं तयोः फलमिति स्फुटमात्मविद्भिः
प्रस्थानपंचकमुदीरितमात्मबोधे ॥ ७ ॥

अर्थ—जो पुरुष आत्माके स्वरूपके जानकार हैं उन्होंने आत्माके बोधमें 'जीवका वास्तविक स्वरूप, उसकी पहिचानके चिह्न, अहितका त्याग, हितमें प्रवृत्ति, और हित अहित दोनोंका फल' ये पांच स्थान-कारण बतलाये हैं। भावार्थ-





आत्मप्रबोधविरहादविशुद्धबुद्धेरन्यप्रबोधनविधिं प्रति कोऽधिकारः ।
सामर्थ्यमस्ति तरितुं सरितो न यस्य तस्य प्रतारणपरा परतारणोक्तिः ॥ ४ ॥

कर्तुं यदीच्छसि परप्रतिबोधकार्यमात्मानमुन्नतमते प्रतिबोधय त्वं ।
चक्षुष्मतैव पुरमध्वनि याति नेतुमंधेन नांध इति युक्तिमती जनोक्तिः ॥ ५ ॥

भारतीय श्रुति-दर्शन केन्द्र
जयपुर

इंद्रियां इसे जान ही कैसे सकती हैं! भावार्थ—स्पर्शको स्पर्शन इंद्रिय, रसको रसना इंद्रिय, गंधको घ्राण इंद्रिय, रूपको चक्षु और शब्दको श्रोत्र इंद्रिय, विषय करती है। परंतु इनमें ऐसी एक भी इंद्रिय नहीं जो दूसरी इंद्रियके विषयको ग्रहण कर सके इसलिये जब इनमें यह भी सामर्थ्य नहीं कि एक इंद्रिय दूसरी इंद्रियके रूपी विषयको भी ग्रहण करले तब ये आत्माके स्वरूपको तो विषय कर ही नहिं सकतीं क्योंकि वह स्पर्श आदि पदार्थोंसे सर्वथा रहित अरूपीहै। यहां तक कि स्पर्श आदि पदार्थोंके समान भी नहीं। उनसे सर्वथा विलक्षण है इसलिये इंद्रियोंसे आत्माके स्वरूपका कदापि ज्ञान नहिं हो सकता ॥ १४ ॥

यत्केवलं विमलमस्खलितप्रकाशं
प्रत्यक्षमक्षणिकमक्षगणानपेक्षं।
आनंदकंदलितमुक्तिलतैकमूलं
तेनात्मतत्त्वमिह सर्वविदो विदंति ॥ १५ ॥



आत्मबोधसे शून्य जनोंको नहिं परबोधनका अधिकार ।
तरणकलासे रहित पुरुषका यथा तरण-शिक्षण निस्सार ॥
जो अभीष्ट परबोधन तुझको तो आत्मन् ! हो निज ज्ञानी ।
नेत्रवान अंधेको खेता नहिं अंधा यह जगजानी ॥ १ ॥



नहिं जाना जा सकता परंतु जो पुरुप विद्वान हैं वे पहिले आगम और अनुमान प्रमाणसे इसे जान लेते हैं पश्चात् व्यवहित पदार्थोंको भी जनानेवाले 'अहं अहं' इस अनुभव प्रत्यक्षसे उसका निश्चय करलेते हैं। भावार्थ—यदि आत्मामें स्पर्श रस आदि पदार्थ होते तब तो इसका ज्ञान स्पर्शन रसना आदि इंद्रियोंके होजाता। परंतु वैसा तो है नहीं इसलिये इंद्रियोंके तो यह सर्वथा अगोचर है। किंतु जो पुरुप विद्वान हैं-आत्माके स्वरूपके जाननेकेलिये लालायित हैं, वे पहिले तो वीतरागप्रतिपादित आगमप्रमाणसे उसको जानते हैं पश्चात् अनुमान प्रमाणसे उसका निश्चय करते हैं। जब आगम और अनुमानसे पूर्ण निश्चय हो जाता है तब 'अहं अहं' (मै मैं) इस स्वानुभव प्रत्यक्षसे उसका पूर्णतया साक्षात्कार भी करलेते हैं ॥ २० ॥

आत्मानं प्रतिपद्य चेतासि जिनोपज्ञागमज्ञापितं
विज्ञायाप्यनुमानमानकलनैस्तन्निर्णयं कुर्वतः।
साक्षाद्वीक्षितुमेनमानुभविकं प्रत्यक्षमभ्यस्यतः

आवेदन ।

आत्माके निरंजन निराबाध अनुपम स्वरूपका भलेप्रकार जानना अध्यात्मज्ञान है और वन पर्वत आदि बाह्य पदार्थोंका ज्ञान बाह्य ज्ञान कहा जाता है । यद्यपि व्यवहारी मनुष्योंको वन पर्वत सुवर्ण रजत आदिका ज्ञान भी आवश्यक है परंतु प्राणिमात्रकेलिये जितना अध्यात्मज्ञान कल्याणकारी और प्रयोजनीय है उतना बाह्यज्ञान नहीं क्योंकि बाह्य ज्ञानसे सदा हमारी आत्मा आकुलतारूप होनेसे अशांत रहती है परंतु जिससमय आत्माका निर्दोष ज्ञान हो जाता है उस समय हृदयमें स्वयं शांति छटकने लगती है और उस समय अध्यात्मज्ञानियोंको यह स्पष्टरूपसे मालूम पड़ जाता है कि जो कुछ शांति और सुख है वह इसी अध्यात्म ज्ञानमें है ।

यद्यपि आत्मा अमूर्तिक पदार्थ है और मूर्तिक इंद्रियोंके अगोचर हैं इसलिये सिवाय सर्वज्ञके अन्य कोई भी मनुष्य उसके स्वरूपको स्पष्ट नहिं जान सकता तथापि दयालु पूर्वाचार्योंने अपने योगबलसे आत्माके कुछ असली स्वरूपका अनुभवकर अन्य मनुष्योंके लिये भी उसके अनुभवका द्वार बतलाया है और यह बात निस्संशय है कि उनके द्वारा बतलाये गये, मार्गका अनुसरण करनेसे अवश्य आत्माके निर्दोष स्वरूपकी कुछ छटा हृदय-

और संन्यासी हुआ, बहुत बार तूने शिखा और जटा भी रखाई, अनेक बार कषायवस्त्र और चर्मकंबल भी धारण किये बहुत बार तू नग्न साधु भी हो चुका इसप्रकार प्रायः समस्त पाखंडियोंके तूने वेप धारण करलिये और इन वेपोंको धारणकर अपनी आत्माकी खूब ही विडंबना की। परंतु हाय-बड़े खेद और दुःख की बात है कि कभी तूने अपने आत्मस्वरूपके जाननेकेलिये प्रयत्न न किया।

भावार्थ—संसारमें जो लोग दंडी संन्यासी नग्न आदि मुद्राके धारक होते हैं वे आत्मज्ञान वा आत्मकल्याणके लिये होते हैं परंतु वास्तविक आत्माका स्वरूप न समझ सकनेके कारणसे उनका वेप ढोंगी वेप समझा जाता है और नट जिसप्रकार वाहवाही लूटनेकेलिये और दूसरोंको रिझानेकेलिये राजा आदिका वेप धारण करता है उसीप्रकार उनका (साधु आदिका) वह वेप भी समझा जाता है। परिणाम यह निकलता है कि वे आत्मज्ञानकेलिये प्रयत्न करते नहीं और व्यर्थके संन्यासी आदिके वेप धारणकर अपनी आत्माको निराकुलतामय सुखसे वंचित रखते हैं। रे आत्मन्! तूने भी जो कुछ साधु संन्यासी आदिका वेप रक्खा वह आत्माका भले-

पर अंकित हो जाती है। आजकल हम लोगोंका उपयोग व्यावहारिक बातोंकी ओर विशेषरूपसे जानेके कारण अध्यात्मज्ञानकी ओर न भी झुके तथापि इस बातको हम निस्संशय हो कह सकते हैं कि कुछ समय पहिले भारतवर्षमें लोगोंकी अध्यात्मज्ञानमें विशेष रुचि थी और व्यवहारी मनुष्य भी अध्यात्म ज्ञानकी चर्चासे अपनेको धन्य समझते थे।

पाठक ! आज हम पुनः आपके करकमलोंमें **आत्मप्रबोध** नामका अनुपम ग्रंथ समपर्ण करनेके लिये प्रस्तुत हुये है इस ग्रंथके निर्माणकर्ता विद्वच्छिरोमणि कविवर श्री **कुमार** हैं और ये इसीग्रंथके १४९ वें श्लोकमें दिये गये कवि विशेषणसे गृहस्थ जान पडते हैं। यद्यपि यह ग्रंथ बहुत छोटा है क्योंकि इसकी श्लोक संख्या केवल १४९ है परंतु इसकी कविता बडे ऊँचे दर्जेकी और स्फुट है और एक गृहस्थ (जैसा कि हमारा अनुमान है) विद्वानका शुद्ध आत्माके विषयमें इतना उन्नत विचार होना परम प्रशंसनीय है।

इस ग्रंथमें ग्रंथकारने जिसको आत्माका भलेप्रकार ज्ञान है वही दूसरेको आत्माका उपदेश दे सकता है। इसके साथ आत्माका स्वरूप, उसका लक्षण, उसके स्वरूपको बतलानेवाले प्रमाण, जीवोंको आत्मामें दृढताका उपदेश, इंद्रजाल मंत्र आदि अविद्याओंकी निंदा, मन वचन कायको वशकर स्वाध्याय करना, स्वाध्यायकी परम प्रशंसा,

नीलेंदीवरचंदनेंदुतरुणीतारुण्यपद्मादि यत्
रूपाढ्यं रसवच्च वर्णयसि तन्नानाविधैर्वर्णकैः
आत्मानं रसरूपवर्जितमिमं यद्यादरादीक्षसे
तत्काव्यव्यसनप्रलापचपलां वाचालतां मुंचसि ॥ ३१ ॥

हे कविगण ! तू बड़ी खूबीके साथ भांति-भांति के वर्णनोंसे नीलकमल, चंदन, चंद्रमा, युवति, युवावस्था और कमल आदिके रूप और रसोंका वर्णन करता है यदि तू रस और रूपसे रहित इस आत्माकी ओर आदरसे दृष्टि लगावे तो यह जो तेरेमें काव्य बनानेका व्यसन पड़ रहा है और काव्योंकी रचनासे जो तेरेमें वावदूकपना है वह सब नष्ट होजाय। भावार्थ—जबतक विद्वान लोगों-को रूप रस आदि जड़ पदार्थोंके धर्मोंसे सर्वथा रहित, अचिंत्य, अविनाशी, सम्य-ग्ज्ञान आदि गुणोंके भंडार आत्माका वास्तविक ज्ञान नहिं होता-उनकी दृष्टि आत्माके असली स्वरूपकी ओर नहिं झुकती तब तक वे रागके कारण नील

ध्यानका माहात्म्य, ध्यानसे विचलित करनेवाली स्त्रियोंकी निंदा, पुत्र धन धान्य आदि परिग्रहोंसे घृणा, आठ प्रकारके मदोंकी निंदा, उनका कुछ स्वरूप, ध्यानके भेद और उनका स्वरूप, ध्यानके पात्र, ध्यानके पिंडास्पद, पदास्पद, रूपास्पद, और रुपातीत ये चार भेद और इनका भिन्न २ स्वरूप, ॐ शब्दकी व्युत्पत्ति, ॐ मंत्रकी उत्कृष्टता, अर्हं मंत्रका फल, ह्रीँ मंत्रका फल, परमात्माका स्वरूप, अन्य सिद्धांतकारों द्वारा मानेगये आत्मामें अरुचिपूर्वक जैनसिद्धांतानुसार आत्मस्वरूपका निरूपण आदि बातोंका वर्णन किया है। यद्यपि ग्रंथकारने इन प्रकरणोंको बहुत ही संक्षेपमें वर्णन किया है तथापि उनके वर्णनमें ऐसी खूबी दिखाई है कि ग्रंथको छोडनेके लिये जी नहिं चाहता और कथाओंके पढनेमें जितना आनंद नहीं आता उससे भी अधिक आनंद इसमें मालूम पड़ता है।

कविवर श्रीकुमार।

कविवर श्रीकुमार द्विजवंशावतंस विद्वद्वर गोविंदभट्टके सबसे बडे पुत्र और प्रसिद्ध कवि हस्तिमल्लके ज्येष्ठ भ्राता थे। एवं ये ई० सन् १२९० अर्थात् वि० सं० १३४७ में मौजूद थे। इन्होंने यद्यपि स्वयं अपने गोत्र आदिका परिचय नहीं दिया है इसलिये संदेह होता है कि आत्मप्रबोधके कर्ता ये ही श्रीकुमार है या कोई अन्य तथापि—

ध्यानसे कषायोंकी उत्पत्ति और नरक आदिके दुःख भोगने पडते हैं ॥६२ ॥

भवाटवीपर्यटनैकहेतू तवार्तरौद्रे यदि हंतुमिच्छा

नदैतयोर्मुंच निमित्तभूतं कषायकल्माषितमात्मभावं ॥६३॥

अर्थ—हे आत्मन् ! आर्त रौद्र ये दोनों ध्यान संसाररूपी गहन अटवीमें भ्रमण करानेवाले हैं और इनकी उत्पत्तिमें मुख्य कारण कषायसे मलिन आत्माके विभाव परिणाम है यदि तू इन दोनों ध्यानोंका नाश करना चाहता है तो आत्माके अतिशय मलिन कषायरूप परिणामोंका सर्वथा त्याग करदे ॥ ६३ ॥

अहंकारः कारागृहमिह वृतिर्गाढममता

महामोहो लौहः पदनिगडबंधोऽतिनिविडः

कषायाश्चत्वारो विषमपरुषा रक्षपुरुषाः

कया युक्त्या मुक्तिर्भवति परतंत्रस्य भवतः ॥ ६४ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! तू सर्वथा परतंत्र है—दूसरोंके आधीन पड़ा हुआ है

श्रीमज्जिनेंद्रचरणाग्रनखोन्मयूखचंद्रोदयाभिमुखचित्तचकोरकेण।
श्रीमत्कुमारकविनात्मविबोधनार्थमात्मप्रबोध इति शास्त्रमिदं व्यधायि ॥१४॥

इस श्लोकके तृतीय चरणमें "श्रीमत्कुमारकविना" इस वाक्यके उल्लेखसे यह स्पष्ट जान पडता है कि ये ही श्रीकुमार आत्मप्रबोध ग्रंथके कर्ता है क्योंकि इन्होंने श्रीकुमार इस नामके रक्षार्थही यहां श्रीमत् पदका उल्लेख किया है। इसके सिवाय "दिगंबर जैन ग्रंथकर्ता और उनके ग्रथ" इस बम्बईसे मुद्रित छोटीसी पुस्तकसे भी यही मालूम हुआ है कि हस्तिमल्लके ज्येष्ठ भ्राता श्रीकुमार आत्मप्रबोध ग्रंथके कर्ता है। सामग्रीके अभावसे हम इन कविरत्नका अधिक परिचय नहिं दे सके इसलिये पाठकगण! क्षमा करै और इनकी सर्वोत्तम कविता देखकर लाभ उठावें।

हमै इस ग्रंथकी एक ही प्रति प्राप्त हुई सो भी प्रायः अशुद्ध दशारा मशराके रूपमें थी इसलिये इसके अनुवादमें हमारी विशेष त्रुटियां भी रहगई होंगी उनकेलिये पाठकोंसे प्रार्थना है कि वे हमै उनसे सूचित करै जिससे कि दूसरे संस्करणमें वे निकाल दी जांय।

वशंवद—
गजाधरलाल जैन।

राग करना उचित होवा, सो तो है नहीं, वे उपटन काजल पान आदि पदार्थोंसे अपना सौंदर्य बनाती हैं क्योंकि यदि उनमें स्वाभाविक सौंदर्य होता तो काजल पान आदि पदार्थोंका अवलंबन वे क्यों करतीं ? परंतु यह जीव इतना रागांध है कि सब कुछ जानकर भी पागल होजाता है और स्त्रियोंसे अपनी लालसा नहिं हटाता ॥ ६९ ॥

रूपं संध्याभ्ररूपं लवणिमविभवोऽभोधिकल्लोललोलः
शैलोत्संगापगेव स्वयमसकृदधःपातिनी यौवनश्रीः
सौभाग्यश्रीः समीराहतकुसुमरजोराजिवद्भंगुरेति
व्यालोलालंबनत्वादरतिरिव रतिर्मुच्यतां चंचलैषा ॥६९॥

अर्थ—स्त्रीका रूप तो संध्याकालके बद्दलोंके समान चंचल है । लावण्य, समुद्रकी तरंगोंके समान देखते २ नाश होनेवाला है । यौवनकी शोभा, पर्वतकी नदीके समान प्रतिसमय नीचे गिरनेवाली है । और सौभाग्य पवनसे प्रेरित पुष्पकी

रौद्रार्तमशुभं त्यक्त्वा शुभं धर्म्यमाधिष्ठिताः
तद्विशुद्धाश्च निर्वांति शुक्लध्यानेन योगिनः ॥ ७८ ॥

अर्थ—जो योगी अशुभध्यान आर्त और रौद्रका सर्वथा नाशकर धर्म्यध्याका अवलंबन करते हैं और धर्म्यध्यानसे विशुद्ध हो शुक्लध्यानका आचरण करते हैं वे निर्वाण धाममें जाकर विराजमान हो जाते हैं—निराकुलतामय सुखका भोग करते हैं ॥ ७८ ॥

आर्तरौद्रोज्झिते ध्याने ध्यातारस्त्रिविधा मताः
आरंभकाश्च तन्निष्ठाः केऽपि निष्पन्नयोगिनः ॥७९॥

अर्थ—आर्त और रौद्रको छोडकर धर्म्य शुक्ल दो उत्तम ध्यान हैं और आरंभक तन्निष्ट और निष्पन्न भेदसे तीन प्रकारके ध्याता ध्यान—करनेवाले हैं॥ ७९ ॥

सम्यग्नैसर्गिकीं वा विरतिपरिणतिं प्राप्य सांसर्गिकीं वा
काप्येकांते निविष्टाः कपिचपलचलन्मानसस्तंभनाय





स्वस्ति श्री१०८ वीरसेन स्वामी भट्टारक
सस्थान— कारजा।

स्थितौ पार्श्वे यस्मिन् रुचिरथमथारोहतु मुनिः।
अतिक्रामत्येवं गुरुगहनसंसारसरणिं
क्रमादुद्भूतांतर्लयमविलयं यातु निलयं ॥ ८३ ॥

अर्थ–इस तन्निष्ठ योगीके ध्यान और अध्ययन दोनो अश्वके समान हैं, पूर्ण रूपसे शिक्षित हैं, सुख प्रदान करनेवाले हैं और श्रद्धारूपीरथके आगे पास खडे हुये हैं-रथमें जुते हुये हैं। यदि यह योगी इस रथमें बैठे तो महागहन संसाररूपी मार्गको तय करे और आत्मामें लीन होकर निराकुलतामय अविलय निलय-अविनाशीक स्थान मोक्षमें जा विराजे। भावार्थ--जिसप्रकार समान शक्तिवाले शिक्षित और मनोहर अश्वोंसे युक्त रथमें बैठनेवाला मनुष्य कठिनसे कठिन भी मार्गको तयकर यथास्थान पहुंच जाता है उसीप्रकार यदि तन्निष्ठयोगीके प्रबल ध्यान और अध्ययनके साथ आत्मस्वरूपके प्राप्त करनेकी अभिलाषा वा रुचि होगई है तो वह आत्मस्वरूपमें लीन होकर और संसारका नाशकर मोक्षमें जा निराकुलतामय



चुन्नीलालजैनग्रंथमाला ।

७

आत्मप्रबोधः ।

आत्मानमात्मनि निरंजनमात्मनैव
पश्यन् ददर्श निखिलान्यपि यो जगंति ।
पुंसामतींद्रियदृशामपि दूरदृश्यं
तं विश्वदर्शिनमनश्वरमानतोऽस्मि ॥ १ ॥

अर्थ—जो परमात्मा अपनी निष्कलंक आत्माको अपनेसे ही अपनेमें देखकर

आनेवाले ज्ञानावरण आदि आठो कर्मोंके उदयसे जो २ फल उत्पन्न होते हैं वे प्रतिफलित रहते हैं–सदा कर्मोंके फलोंका ध्यान होता रहता है उन योगियोंके परम पवित्र विपाक नामका धर्म्यध्यान होता है। भावार्थ–[ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय मोहनीय आयुः नाम गोत्र और अंतराय ये आठ कर्म हैं। ये अपने अपने समयसे उदयमें आते रहते हैं और इनके फल भी जुदे २ होते हैं। जो योगी अपने चित्तमें इन कर्मोंके फलको चिंतवन करता रहता है उसके विपाक विचय नामका धर्म्यध्यान होता है]॥ ९२ ॥

त्रिचत्वारिंशद्भिस्त्रिशतमधिकं यस्य घनतः
प्रमाणं रज्जूनां त्रिपवनपुटैर्यो वलयितः।
कटीहस्तोर्ध्वस्थप्रसृतपदपुंसाकृतिरसौ
स्थिरश्चिंत्यो लोकः सततमिति संस्थानविचयः॥९३॥

अर्थ–[यह लोक तीनसौ तेतालीस राजू घनाकार है। सदा इसको घनवात

समस्त जगतको स्पष्टरूपसे देखता है और जिसके स्वरूपको हमारी तो क्या बात, अतींद्रिय ज्ञानरूपी दृष्टिके धारक भी योगी नहीं देख सकते उस विश्व-दर्शी-सर्वद्दष्टा, अनश्वर-अविनाशी परमात्माके लिये नमस्कार है। भावार्थ– जैनसिद्धांतमें गुण गुणीका सर्वथा भेद नहिं माना गया है। निश्चयनयसे वे एक ही हैं इसलिये जितने आत्माके केवलदर्शन केवलज्ञान आदि गुण हैं उनसे आत्मा कोई जुदा पदार्थ नहिं है और इसीलिये यदि वह (आत्मा) केवलदर्शन वा केवल-ज्ञानसे स्वयंको तथा परपदार्थोंको देखता जानता है तो अपनेसे ही देखता जानता है ऐसा कहा जाता है। इसी आशयको हृदयमें रखकर ग्रंथकारने "जो अपनेसे हीं अपनेमें अपने शुद्धस्वरूप और परद्रव्योंको देखने जाननेवाला है जिसके स्वरूपको दिव्यज्ञानी भी कठिनतासे देख सकते हैं ऐसे सर्वदर्शी अविनाशी परमात्माके लिये नमस्कार है" यह परमात्माकी स्तुति की है॥ १॥

आत्मप्रबोधमाधिगम्य परप्रबोधं
ये संविधाय विदधुः स्वपरार्थसिद्धिं।

का धारण करना वा उसै छोड़ वाग्योगका धारण करना योग संक्रांति है जिसमें ये तीनों संक्रांति और वितर्क हो उसै पृथक्त्ववितर्क-वीचार नामका शुक्लध्यान कहते हैं। जिसमें अर्थ आदिकी संक्रांति तो न हो किंतु वितर्क अवश्य हो उसका नाम एकत्ववितर्क नामका दूसरा शुक्लध्यान है। जहांपर शरीरकी क्रियाओंकी सूक्ष्मता हो वह तीसरा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती है और जहांपर उसका भी अभाव होजाय वह व्युपरताक्रियानिवृत्ति नामका चौथा शुक्लध्यान है। इनमें पृथक्त्ववितर्क नामका प्रथम शुक्लध्यान मन वचन काय तीनों योग धारण करनेवाले सकल श्रुतधारीके होता है। दूसरा एकत्ववितर्क नामका शुक्लध्यान तीनोंमेंसे किसी एक योगवाले श्रुतज्ञानीके होता है। तीसरा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती नामका शुक्लध्यान काय योगवाले केवलीके और चौथा व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामका शुक्लध्यान अयोगकेवली चौदवें गुणस्थानवालेके होता है ॥ ९५-९६ ॥

मिथ्यासासादनमिश्रस्थानकस्थायिनो जनाः ।
आर्तरौद्राशुभध्यानसंधानस्याधिकारिणः ॥ ९७ ॥

व्यामोहविभ्रमभरच्छिदुरा गुरुभ्य-
स्तेभ्यो मम प्रणतिरस्तु परापरेभ्यः ॥ २ ॥

अर्थ—जिन गुरुओंने अपनी आत्माका यथार्थ स्वरूप जानकर दूसरे मनुष्योंको भी उसके स्वरूपका प्रतिबोध दिया, अपने पराये प्रयोजन सिद्ध किये और जो मूढ़ता भ्रांतिके सर्वथा नष्ट करनेवाले हुये उन परापर गुरुओंकेलिये भी हमारा सविनय नमस्कार है। भावार्थ—जो गुरु अपनी आत्माका स्वरूप न समझकर दूसरोंको उसके समझानेकी चेष्टा करते हैं उन गुरुओंके नमस्कारकी यहां कोई आवश्यकता नहीं है किंतु जो अपने स्वरूपको भलीभांति समझकर पीछे उसे दूसरोंको समझानेकी चेष्टा करते हैं और उसमें सफल हो मूढ़ता एवं भ्रांतिको सर्वथा नष्ट करनेवाले होते हैं उन गुरुओंको भक्तिभावसे नमस्कार है ॥ २ ॥

नास्ति श्रुते परिणतिः प्रतिभा न तादृग्
वक्तृत्वभंगिरपि न प्रतिपादिका मे ।

अर्थ—आचारके धारण करनेवालोंमें अतिशय उत्तम, ज्ञान और ऐश्वर्यसे मंडित, संघके स्वामी आचार्योंका परिचायक अक्षर आकार है अर्थात् आकारसे आचार्योंका बोध होता है ॥ ११० ॥

उपदेष्टार उत्कृष्टा उदात्ता उन्नतिप्रदाः ।
उपाधिरहिता ध्येया उपाध्याया उकारतः ॥ १११ ॥

अर्थ—समीचीन उपदेश देनेवाले, उत्कृष्ट, अतिशय तेजस्वी, उन्नति प्रदान करनेवाले और बाह्य अभ्यंतर दोनोंप्रकारकी उपाधियोंसे रहित उपाध्याय कहे जाते हैं और उनका उकारसे चिंतवन करना चाहिये अर्थात् उपाध्यायका वाचक उकार अक्षर है ॥ १११ ॥

साधारणा रिपौ मित्रे साधकाः स्वपरार्थयोः ।
साधुवादास्पदीभूताः साकारे साधकाः स्मृताः ॥ ११२ ॥

अर्थ—जो महात्मा मित्र, और शत्रुओंमें समान हैं अर्थात् मित्रोंमें तो राग

शक्तिर्न बोधयितुमन्यजनं किमन्य-
दात्मप्रबोधमधुना प्रथमं करोमि ॥ ३ ॥

अर्थ—मैं (ग्रंथकार) न तो विशेषरूपसे शास्त्रोंका ज्ञाता हूं। न मेरी चमत्कारिणी बुद्धि है। मेरी बोलनेकी शैली भी ऐसी उत्तम नहीं है जो मैं भलेप्रकार पदार्थोंका स्वरूप वर्णन करसकूं और दूसरे मनुष्यको मैं प्रबोध दूं ऐसी मुझमें शक्ति भी नहीं है। बस! और अधिक क्या कहूं, पहिले ही पहिले मैं इस आत्मप्रबोध ग्रंथकी ही रचना कर रहा हूं ॥ ३ ॥

आत्मप्रबोधविरहादविशुद्धबुद्धे-
रन्यप्रबोधनविधिं प्रति कोऽधिकारः।
सामर्थ्यमस्ति तरितुं सरितो न यस्य
तस्य प्रतारणपरा परतारणोक्तिः ॥ ४ ॥

वनता है इसलिये यह ओंकार भी मतिज्ञान आदि पांचो ज्ञानस्वरूप है ॥११७॥

अकारोयं साक्षादमृतमयमूर्तिः सुखयति
स्फुरद्रेफो रत्नत्रयमविकलं स कलयाति ।
समोहं हंकारो दुरितनिवहं हंति सहसा
स्मरेदेवं वीजाक्षरमभिन्नाक्षरपदं ॥ ११८ ॥

अर्थ—यहांपर 'अर्हं' इस वीजाक्षर मंत्रके प्रत्येक अक्षरका इसप्रकार फल बतलाया है—अर्हं इस वीजाक्षरमंत्रमें जो अकार है वह साक्षात् अमृतमय—निराकुलतामयसुखकी मूर्ति है और जो इसमंत्रको सिद्ध करते हैं उन्हें सुख प्राप्त होता है। रेफ, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र स्वरूप है और 'हं' यह शब्द समस्त पाप और मोहको मूलसे नष्ट करनेवाला है तथा अ र, हं इन अक्षरोंको आपसमें मिलाकर अर्थात् 'अर्हं' ऐसा एकसाथ उच्चारणकर इसका स्मरण करना कल्याणकारी है। भावार्थ—जिसप्रकार सम्यदर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र सर्वोत्कृष्ट पदार्थ

अर्थ—नदीको तैरकर पार करनेकी सामर्थ्य न रखनेवाला मनुष्य, यदि दूसरोंको तैरनेका उपदेश(शिक्षण)दे तो जैसा उसका वह उपदेश वंचक उपदेश समझा जाता है-कोई मनुष्य उसके उपदेशपर विश्वास नहिं करता उसीप्रकार जिसकी आत्मा स्वयं प्रबुद्ध नहीं है और बुद्धि भी परद्रव्यके संपर्कसे मलिन है वह मनुष्य यदि दूसरोंको प्रबोध दे-मोक्षका मार्ग बतलावे तो उसका उसप्रकारका प्रबोध देना भी विश्वासके योग्य नहीं है-अप्रबुद्ध पुरुष दूसरोंको प्रबोध देनेका अधिकार नहिं रख सकता। भावार्थ—जिसप्रकार तरनेके स्वरूपको जाननेवाले मनुष्यका तरनेका उपदेश प्रमाणीक माना जाता है और वह उपदेश फलप्रद भी होता है किंतु जिसने कभी तरना नहिं सीखा, तरनेकी तो क्या बात, उसे आखोंसे देखा तक भी नहीं, उसका उपदेश प्रमाणीक नहिं गिना जाता और न उससे कुछ फल ही निकलता है उसीप्रकार अच्छीतरह आत्माके स्वरूपको जाननेवाले और निर्मल बुद्धिके धारक मनुष्यका आत्माके स्वरूपका उपदेश विश्वासके योग्य होता है परंतु जो जरा भी आत्माका स्वरूप नहिं जानता बुद्धि भी जिसकी मलिन है

अंधकारका नाश होता है उसीप्रकार इसमंत्रमें भी रेफका स्फुरण है और उसका फल अंधकारका नाश है। जिसप्रकार आकाशमें चंद्रमाकी लेखा उदित होती है उसीप्रकार इस मंत्रमें भी बिंदुसहित चंद्रलेखा विद्यमान है। आकाश जिसप्रकार अकलित अपरमित सीमाका धारक है उसीप्रकार इस मंत्रराजकी आदि अंतकी सीमा भी अ-कलित—अ से सहित है इसलिये जो महानुभाव ऐसे अनुपम मंत्रका आराधन करते हैं वे धन्य हैं और उन्हें मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ १२० ॥

रागांगवर्जितरसंगतया स्फुरंत्या
ज्योतिःशिखोज्ज्वललसत्कलया सनाथः।
शब्दोऽनहंकृतिरहं यदि चिंत्यते चे-
त्सर्वज्ञनाथपदसिद्धिकरस्तदा स्यात् ॥ १२१ ॥

अर्थ—रागके कारणोंको नष्ट करनेवाले रेफसे युक्त, स्फुरायमान और अखंड ज्योतिकी धारक अर्धचंद्रकलासे शोभित, अहंकारको नाश करनेवाले

उसके उपदेशपर कोई मनुष्य विश्वास नहिं करता-वह मनुष्य विद्वानोंकी दृष्टिमें वंचक ढोंगी समझा जाता है इसलिये जो मनुष्य आत्माके स्वरूपका ज्ञान दूसरों-को कराना चाहते हैं उन्हें पहिले स्वयं उसका ज्ञान करना चाहिये ॥ ४ ॥

कर्तुं यदीच्छसि परप्रातिबोधकार्य-
मात्मानमुन्नतमते ! प्रतिबोधय त्वं ।
चक्षुष्मतैव पुरमध्वनि याति नेतु-
मंधेन नांध इति युक्तिमती जनोक्तिः ॥ ५ ॥

अर्थ--हे उच्चबुद्धिके धारक आत्मन् ! यदि तू दूसरे मनुष्योंको प्रतिबोध देना चाहता है- अन्य मनुष्य आत्माका भलेप्रकार स्वरूप समझ जावें यदि तेरी यह इच्छा है, तो तू पहिले अपनी आत्माको प्रतिबुद्ध बना-उसे आत्मस्वरूपका जानकार कर । क्योंकि लोग ऐसा कहते हैं और उनका यह कहना सर्वथा युक्तियुक्त भी है कि सूझता मनुष्य ही अंधेको सुरक्षित रूपसे मार्गमें ले जासक-

करता है तथा जिसका अकारादिस्वर, ककारादि वर्ग और कमल आदि परिकर है ऐसे अनुपम बीजाक्षर ह्रीँ मंत्रका विद्वानोंको सदा आराधन करना चाहिये भावार्थ– जिससमय ह्रीँ इस मंत्रको किसी कपड़े आदिपर कमलके आकारमें काढा जाता है तो उससमय कमलके आठदलोंमें अकारादिस्वर और कवर्ग चवर्ग आदि वर्ग लिखे जाते हैं इसलिये जिसमंत्रका स्वर वर्ग और पद्म आदि परिकर है तथा जो ऊर्ध्व और निम्न रेफोंसे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, कलासे सम्यक्चारित्रको और शून्यसे परमात्मा सिद्ध परमेष्ठीको धारण करता है विद्वानोंको चाहिये कि ऐसे अनुपम बीजाक्षर मंत्रका वे अवश्य आराधन करें अर्थात् ह्रीँ इस बीजाक्षर मंत्रके आराधनसे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र और निर्दोष सिद्ध परमात्मा पदकी प्राप्ति होती है ॥ १२२ ॥

अर्ध्वेव सिद्धिनगरस्य नमः पुरोग-
नीरागपंचपरमेष्ठिपदप्रयोग : ।

ता है अंधा अंधेको नहीं । भावार्थ—जिसप्रकार नेत्रवाले पुरुषको मार्ग अच्छी तरह सूझता है इसलिये वह अंधेको ठीक ठिकानेप हुंचा देता है परंतु अंधा अंधेको नहीं । क्योंकि, उसै जरा भी मार्ग नहीं सूझता । उसीप्रकार हे आत्मन् ! यदि तू भलेप्रकार आत्माके स्वरूपका जानकार होगा तो दूसरेको उसका ज्ञाता बना सकेगा, अज्ञानी होनेपर नहीं । इसलिये पहिले तू आत्मस्वरूपका जानकार बन, पीछे दूसरोंको उसके ज्ञाता बनानेका प्रयत्न कर । अन्यथा तू डूबेगा सो तो डूबेगा ही, अन्य भी मनुष्योंको और डुबा वैठेगा ॥ ५ ॥

मिथ्यात्वमूढमनसः सततं सुषुप्ता
ये जंतवो जगति तान्प्रति न श्रमो नः ।
येषां यियासुरचिरादिव मोहनिद्रा
ते योग्यतां दधति निश्चितमात्मबोधे ॥ ६ ॥

अर्थ—ग्रंथकार कहते हैं कि जो जीव मिथ्यात्वसे मूढ़ हैं-जिनवचन और

और आत्मासे आत्माके स्वरूपका लाभ करना दोनों बातें एक हैं ॥ १४१ ॥

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तं शिवपदपदवी ज्ञानमंतः प्रविष्टं
दृष्टौ दृष्टिश्चरित्रे तदमलमचलं शुद्धचैतन्यमेव ।
नैषा भिन्नेति रत्नत्रितयपरिणातिस्तत्त्वतो भाति यस्मा--
त्तन्नित्यं निर्विकल्पे कलयति परमात्मानमात्मन्यभिन्नं१४२

अर्थ—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र ये तीनों रत्नत्रय - मोक्षके मार्ग हैं उनमें ज्ञान तो अंतरंगमें प्रविष्ट है, श्रद्धानमें सम्यग्दर्शन और चारित्रमें अविचल निर्मल शुद्ध चैतन्य विद्यमान है इसलिये जिसके सम्यग्दर्शन आदि तीनों रत्न निश्चयनयसे अभिन्न हैं—भिन्न नहिं जानपड़ते उस अविनाशी परमात्माका योगी अपने निर्विकल्प आत्मासे निश्चय करता है । भावार्थ—विना सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र प्राप्त हुये मोक्ष नहिं मिल सकती इसलिये सम्यग्दर्शन आदि मोक्षके मार्ग हैं और ये चैतन्यस्वरूप परमात्माके स्वरूपसे अभिन्न हैं

जबतक आत्माका वास्तविक स्वरूप क्या है यह बात न जानली जायगी, उसके जाननेके चिह्न न पहिचानलिये जांयगे, अहितका त्याग, हितमें प्रवृत्ति और उन दोनोंका फलज्ञान न होगा तबतक कभी भी आत्माका बोध नहिं होसकता इसलिये जो मनुष्य अपनी आत्माको प्रबुद्ध बनाना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे इन पांच बातोंपर अवश्य ध्यान दें ॥ ७ ॥

निर्वाणवादिभिरपि प्रतिपत्तिपूर्व-
मस्तित्वमात्मविषये प्रतिपन्नमास्ते ।
नास्तीति नास्तिकतया यदि केचिदाहुः
किं मे मुमुक्षुमुनिवृंदबहिःकृतैस्तैः ॥ ८ ॥

अर्थ—जो पुरुष निर्वाणवादी हैं-मोक्ष कोई पदार्थ है इस बातको पूर्णरूपसे माननेवाले हैं वे युक्तिपूर्वक आत्माका अस्तित्व अवश्य स्वीकार करते हैं। परंतु नास्तिकलोग, स्वर्ग मोक्ष आदि पदार्थोंको न मानकर आत्माका अस्तित्व नहिं मानते।

खैर ! मत मानो। उनके न माननेसे कोई हानि नहिं आसकती; क्योंकि, वे मोक्षाभिलाषी मुनिगणसे भिन्न हैं- वे विचारे 'आत्मा निराकुलतामय सुखका कैसे अनुभव करता है ?' इस बातको ही नहिं जानते। भावार्थ—जितने नैयायिक वैशेषिक वेदांती आदि हैं वे सब इस बातको स्वीकार करते हैं कि जड़ पदार्थोंसे भिन्न आत्मा कोई पदार्थ है और वे उसका मोक्ष स्वर्ग जाना भी मानते हैं। किंतु एक नास्तिक ऐसा है जो कि आत्माको भिन्न पदार्थ नहिं मानता, पृथ्वी जल आदि पंचभूतोंसे उत्पन्न शक्तिविशेषको ही आत्मा कहता है और स्वर्ग मोक्ष आदि पदार्थोंको भी वह स्वीकार नहिं करता। किंतु इस लोकमें मेवा मिष्टान्न उत्तम स्त्री पुत्र आदि पदार्थोंकी प्राप्तिको ही स्वर्ग मोक्ष कहता है। परंतु उसके न स्वीकार करनेसे कोई हानि नहीं। क्योंकि वह अज्ञानी है वह यही नहिं जानता कि मेरी आत्माका कल्याण किस रीतिसे होसकता है ॥ ८ ॥

नित्यो निरत्ययगुणः परिणामधाम
बुद्धो बुधैर्दृगवबोधमयोपयोगः।

आत्मा वपुःप्रमितिरात्मपरप्रमाता
कर्ता स्वतोऽनुभविताऽयमनंतसौख्यः ॥ ९ ॥

अर्थ—यह आत्मा नित्य है। अविनाशी गुणोंका भंडार है। परिणमनशील है। विद्वान लोगों द्वारा जाना और अनुभव किया जाता है, ज्ञानदर्शनस्वरूप उपयोगमय है, शरीरप्रमाण है, स्व परका ज्ञाता है, कर्ता है, कर्मके फलका भोक्ता है और अनंत सुखका भंडार है। भावार्थ–द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा कभी आत्माका नाश नहिं हो सकता इसलिये यह नित्य अविनाशी है। सम्यग्ज्ञान आदि गुण इसके कभी नष्ट नहिं होते इसलिये यह नित्य गुणोंका भंडार है। पर्यायार्थिकनयसे सदा इसका परिणमन हुआ करता है। सर्वज्ञ अपने आनंद और ज्ञानसे, विद्वान मनुष्य अपने स्वानुभव प्रत्यक्षसे इसका साक्षात्कार करते हैं। यह भलेप्रकार पदार्थोंको जानता देखता है इसलिये ज्ञानदर्शनस्वरूप उपयोगमय है। पर्यायार्थिकनयसे इसकी सर्वदा पर्यायें पलटा करती हैं-इसलिये यह जितना छोटा बड़ा शरीर पाता है उसीके प्रमाण है। स्व और परको जानता है इसलिये स्वपरका ज्ञाता, स्वयं

कर्मोंका उपार्जन करता है इसलिये कर्मोंका कर्ता, स्वयं कर्मोंके फलका भोगनेवाला होनेसे भोक्ता और निराकुलतामय अनंत सुखोंका भंडार है ॥ ९ ॥

नायं जडो न मलिनः क्षणिको न शून्यो
नात्मज्ञ एव नियमान्न परज्ञ एव ।
अस्य स्वरूपमथ तत्त्वविधेर्विमर्शात्
प्रागुक्तयुक्तिघटितां घटनामुपैति ॥ १० ॥

अर्थ—आत्माके स्वरूपकी भलेप्रकार परीक्षा करनेसे इसबातका पक्का निश्चय होगया है कि न यह आत्मा जड़ है। न मलिन है, न क्षणिक और शून्य है। तथा केवल अपना ही जाननेवाला वा परहीका जाननेवाला है ऐसा भी नहीं है। किंतु पहिले जो अविनाशी गुणोंका भंडार आदि बतला आये हैं वैसा ही है। भावार्थ–एक दर्शनकार मानता है कि यह आत्मा पृथ्वी आदि जड़ पदार्थोंके संसर्गसे उत्पन्न हुआ है इसलिये जड़ है। कोई कहता है यह कर्ममलसे सदा ढका

रहता है इसे ऐसा कभी अवसर नहिं मिलसकता जब कि यह कर्मोंसे रहित होजाय इसलिये यह सदा मलिन है। बौद्ध मानता है कि सब पदार्थ प्रतिक्षण नष्ट होते रहते हैं आत्मा भी पदार्थ होनेसे प्रतिक्षण विनाशीक है इसलिये क्षणिक है। शून्य वादी कहता है कि संसारमें कोई पदार्थ विद्यमान नहीं इसलिये उसके मतसे आत्मा कोई पदार्थ नहीं। कोई कहता है कि आत्मा अपने ही को जानता है और कोई कहता है कि परपदार्थोंको ही जानता है। परंतु ये सब बातें प्रमाणबाधित हैं। तर्क बलसे जड़ आदि स्वरूप आत्मा कभी सिद्ध नहि होसकता ॥ १० ॥

आस्ते स्वभावविशदोऽपि कलंकितोऽय-
मंतर्निलीनघनकार्मणकालिकाभिः।
जीवः सुवर्णवदुदग्रतपोऽग्नितप्तः
स्वं ज्योतिरप्रतिहतप्रसरं तनोति ॥ ११ ॥

अर्थ—यह आत्मा सुवर्णके मानिंद है। क्योंकि, सुवर्ण जिसप्रकार स्वभावसे

स्वच्छ रहनेपर भी कीटक आदिके संबंधसे मलिन होजाता है और जिससमय अग्निसे तपाया जाता है उससमय ज्योंका त्यों शुद्ध हो दमक निकलता है जिससे कि चारो ओर उसकी दीप्ति छटकने लगती है उसीप्रकार यदि शुद्धनिश्चयनयसे देखा जाय तो यह आत्मा शुद्ध निष्कलंक है और कर्मोंके घनिष्ट संपर्कसे यह मलिन हो रहा है परंतु जिससमय यह तपरूपी अग्निसे कर्मोंको भस्म करदेता है उस-समय यह ज्योंका त्यों होजाता है, चारो ओर इसका अप्रतिहतरूपसे प्रकाश फैल जाता है अर्थात् अपने केवलज्ञान और केवलदर्शनकी सहायतासे यह संसा-रके छोटे बड़े सब पदार्थोंको जान देख लेता है ॥ ११ ॥

मूढैरनादिघनसंघटनप्ररूढो
भिन्नोऽप्यभिन्न इति कर्ममलोऽभ्यधायि ।
भिन्नो न चेत्कथमिवामलकेवलार्चि-
रस्याभ्युदेति हतकार्मणसंचयस्य ॥ १२ ॥

अर्थ—विषय आदि कार्योंके सेवन करनेसे वृद्धिको प्राप्त यह कर्ममल अनादिकालसे जीवोंके साथ संबद्ध हो रहा है और आत्मासे सर्वथा जुदा है। परंतु जो पुरुष, मोहके जालमें फसे हुये मूढ़ हैं वे उसै अभिन्न मानते हैं-उनकी दृष्टिमें आत्मा और कर्म एक हैं, किंतु यह उनकी बड़ी भारी भूल है। क्योंकि, यदि कर्म भिन्न नहिं होता तो जिससमय यह जीव समस्त कर्मोंको नष्ट करदेता है उससमय इसके अतिशय देदीप्यमान केवलज्ञानरूपी विभूति छटकती हुई दृष्टि गोचर न होती।

भावार्थ—यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो यह आत्मा शुद्ध निष्कलंक है। परंतु कर्मोंकेद्वारा गाढ़रूपसे आच्छन्न होनेके कारण इसके केवलज्ञान आदि स्वरूपका विकास नहिं होता किंतु जिससमय तप आदिके बलसे इसके कर्म नष्ट होजाते हैं उससमय इसका स्वरूप प्रकट होजाता है और इसै संसारके समस्त पदार्थोंके जानने देखनेमें किसीप्रकारका कष्ट नहिं उठाना पड़ता। यदि कर्म और आत्माको अनादिकालसे आपसमें एकमएक जानकर सर्वथा एक मान लिया जायगा तो इससे कर्म कभी जुदे न होंगे। इसका केवलज्ञान आदि स्वरूप भी विकसित न

होगा और कर्मोंसे सदा मलिन रहनेके कारण यह निराकुलतामय सुखका भी अनुभव न कर सकैगा इसलिये मानना पड़ेगा कि कर्म और आत्मा कभी भी एक नहिं होसकते ॥ १२ ॥

देही यथा निगदितो नियमात्तथेति
पक्षो न मूढगमकैः प्रतिबाधितोऽयं ।
त्रेधा प्रमाणमिह साधकमस्ति यस्मात्
प्रत्यक्षमाप्तवचनं च तथानुमानं ॥ १३ ॥

अर्थ—जैसा हमने पहिले संसारी आत्माका स्वरूप प्रतिपादन किया है वह वैसाही है हमारा वह पक्ष किसीभी प्रतिवादीके अभिमत प्रमाणसे बाधित नहिं हो सकता। क्योंकि, उसको सिद्धकरनेवाले प्रत्यक्ष आगम और अनुमान ये तीन प्रमाण मोजूद हैं। भावार्थ—आत्मा नित्य अविनाशी गुणोंका भंडार और ज्ञान आदि स्वरूप है यह बात सकलप्रत्यक्ष केवलज्ञानसे सर्वथा निश्चित है। आगमप्रमाण

भी इसी बातको प्रतिपादन करता है और अनुमानसे भी यह बात सिद्ध होती है इसलिये आत्माका नित्यत्व, उपयोगमयत्व आदि स्वरूप जो हमने वतलाया है वह निर्दोष और अबाधित है ॥ १३ ॥

प्रत्यक्षमक्षजनितं न जनस्य साक्षा-
लक्ष्यीकरोति तमलक्ष्यमतींद्रियत्वात् ।
स्पर्शाद्यशेषविषयव्यतिरिक्तरूपं
संविद्रते विसदृशं कथमिंद्रियाणि ॥ १४ ॥

अर्थ—यह नित्यत्व आदि आत्माका स्वरूप, अतींद्रिय है–इंद्रियां इसे विषय नहिं करसकतीं इसलिये यह इंद्रियजन्य प्रत्यक्षज्ञानसे नहि जाना जा सकता। ठीक भी है क्योंकि जिस पदार्थमें स्पर्श रस गंध आदि गुण हों उसीको इंद्रियां जान सकती हैं अन्यको नहीं और यह आतमस्वरूप स्पर्श आदि पदार्थोंसे सर्वथा भिन्न है तथा स्पर्श आदि पदार्थोंके समान न होकर उनसे सर्वथा विलक्षण है फिर विचारी

अर्थ—जो समस्तपदार्थोंके जानकार-सर्वज्ञ हैं वे अतिशय निर्मल, जिसका प्रतिरोध ही नहि हो सकता ऐसे अनुपम प्रकाशके धारक, प्रत्यक्ष-एकमात्र आत्माकी सहायतासे विकसित, अविनाशी, पदार्थोंके जाननेमें इंद्रियोंकी सहायता न चाहनेवाले, आनंददायक मुक्तिरूपी लताके मूल कारण अपने केवलज्ञानसे इस आत्माके स्वरूपको स्पष्टरूपसे जानते हैं। भावार्थ—पहिले कह आये हैं कि आत्माके स्वरूपका ज्ञान प्रत्यक्ष आगम और अनुमान प्रमाणसे होता है। सो वह सकलप्रत्यक्ष ज्ञान केवलज्ञान ही है। क्योंकि यह अतिशय निर्मल है, अनुपम प्रकाशका धारक, अविनशी, पदार्थोंके ज्ञान करनेमें इंद्रिय आदिकी अपेक्षा न करने वाला और आनंदमय सुखका परम कारण है अन्य कोई भी ज्ञान ऐसा नहीं। इसलिये जो मनुष्य केवलज्ञानी हैं वे आत्माके स्वरूपको स्पष्टरूपसे जानते हैं उनको ही इसका पूर्णरूपसे साक्षात्कार होता है ॥ १५ ॥

आत्मा जिनैरनुभवप्रातिपन्नपूर्वो
भव्येषु दिव्यवचसा प्रतिपादितश्च ।

तत्त्वोपलंभनविधावकृतप्रलंभं
तथ्यं सुपथ्यमिति जैनवचः प्रमाणं ॥ १६ ॥

अर्थ—भगवान जिनेंद्रने प्रथम तो अपने अनुभवसे-केवलज्ञानसे आत्माको जाना पश्चात् अपनी दिव्यध्वनिसे-दिव्यवचनोंसे कल्याणके इच्छुक उत्तम जीवोंके सामने उसका वास्तविक स्वरूप बतलाया। यहां पर यह शंका न करनी चाहिये कि भगवान जिनेंद्रके वचनोंपर ऐसा गाढ श्रद्धान क्यों ? क्योंकि, उनके वचन वस्तुके स्वरूप वर्णन करनेमें वंचना करनेवाले नहीं होते-वस्तुका जैसा स्वरूप होता है उसको वे उसी रीतिसे वर्णन करते हैं और तथ्य-पूर्वापर विरोधरहित सुपथ्य हितकर होते हैं इसलिये वे प्रमाण हैं। भावार्थ—भगवान जिनेंद्र वीतराग थे और वीतराग मनुष्य पदार्थका जैसा स्वरूप होता है वैसा ही प्रतिपादन करता है। दूसरे जीवोंको वह मिथ्या जालमें फसाना नहिं चाहता और उसके वचन पूर्वापरविरोधरहित और निश्चित रहते हैं। वीतराग भगवान जिनेंद्रने अपने अखंड ज्ञानसे आत्माके हितकर स्वरूपको भलेप्रकार जानकर अपने दिव्यवचनोंसे मनुष्योंके समक्ष उसका

प्रतिपादन किया है इसलिये उनके वचन सर्वथा प्रमाणीक हैं। इसश्लोकसे वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत आगम प्रमाण है और उससे जो आत्माके स्वरूपका ज्ञान होता है वह विलकुल सत्य होता है यह बात बतलाई है ॥ १६ ॥

यो द्वेष्टि रज्यति विमुह्यति स ह्यनाप्तो
दूरांतरे व्यभिचरंति वचांसि तस्य ।
न द्वेष्टि रज्यति विमुह्यति यः स आप्तो
नैवायतौ व्यभिचरंति वचांसि तस्य ॥ १७ ॥

अर्थ—जो रागी द्वेषी और मोही है वह अनाप्त है और उसके वचन दूरवर्ती एवं व्यवहित पदार्थोंमें बाधित होजाते हैं। वह दूरके पदार्थको वा पहाड़ आदि से ढके हुये पदार्थको ठीक ठीक नहिं बता सकता। परंतु जो न द्वेषी न रागी और न मोही है वह आप्त है और उत्तरकालमें उसके वचनोंमें किसी प्रकारका विरोध नहिं आता। भावार्थ—मेरुपर्वत, राम, लक्ष्मण, कृष्ण, परमाणु आदि वा

जमीनके अंदर रक्खे हुये पदार्थोंके वर्णन करनेवाले जिसके वचनमें किसीप्रकारका विरोध न आता हो, वे जैसे थे, वा हैं, उनको उसीरूपसे जो वर्णन करनेवाला हो एवं राग द्वेष मोहसे सर्वथा रहित हो वह तो आप्त है और जो रागी द्वेषी मोही हो एवं दूर अंतरित पदार्थोंके वर्णन करनेमें जिसके वचनोंमें विरोध आता हो वह अनाप्त है ॥ १७ ॥

क्षेत्रज्ञमाप्तवचनादधिगम्य सम्यक्
तस्मिन्नृणामविदुषां च विवादिनां च ।
सत्यानुमानगमकः कृतिनामभीष्टो
यो हेतुरप्रतिहतस्तमुदाहरामि ॥ १८ ॥

अर्थ—जो मनुष्य मूढ़ हैं वा आत्माके विषयमें विवादग्रस्त हैं उनकेलिये मै भगवान जिनेंद्रके वचनसे भलेप्रकार आत्माके स्वरूपको जानकर उसीकी सिद्धिमें सत्य, अनुमानको जनानेवाले, विद्वानोंको अभीष्ट और दूसरे हेतुओंसे सर्वथा अका-

रूप, निर्दोष हेतुका प्रयोग करता हूं अर्थात् उनके सामने मैं आत्माका स्वरूप सच्चे हेतुओंसे मंडित अनुमानसे सिद्ध करता हूं ॥ १८ ॥

आदानदानगमनागमनानुवाद-
वादश्रुतिस्मृतिसुखानुभवादिचेष्टा ।
यस्मिन् सति स्फुरति येन विना न देहे
चिद्वस्तु तद्विशदलक्षणवद्यमस्ति ॥ १९ ॥

अर्थ—जिसकी मोजूदगीमें शरीरसे पदार्थोंका ग्रहण करना, दान देना, जाना, आना, अनुवाद करना, वाद करना, सुनना, स्मरण करना, और सुख दुःख आदिका अनुभव करना हो और जिसके विना वे न हों वही आत्मा है ऐसा समझना चाहिये। भावार्थ—शरीरके भीतर एक ऐसा पदार्थ है जो कि-शरीरसे पदार्थोंका ग्रहण करता है, दान देता है, गमन करता है, ठहर जाता है, दूसरेके वचनोंका अनुवाद करता है, स्वयं बोलता है, शब्दोंको सुनाता है, पहिली बातोंका

स्मरण करता है और सुख दुःख आदिका भी अनुभव करता है। परंतु जिस-समय वह शरीरको छोड़ देता है अर्थात् मरणावस्था होजाती है उस समय यह शरीर ज्योंका त्यों पड़ा रह जाता है-इससे एक भी चेष्टा नहिं होती इसलिये इस अविनाभावसंबंधसे अर्थात् शरीरके भीतर विद्यमान उस पदार्थके संबंधसे शरीरसे चेष्टाओंका होना और उस पदार्थके अभावमें बुद्धिपूर्वक किसी चेष्टाका न होना इत्यादि व्याप्तिसे जान पड़ता है। वह पदार्थ आत्मा ही है और उसीका आदान कारण आदि निर्दोष लक्षण है अन्यका नहीं ॥ १९ ॥

देही हृषीकगणनिर्विषयोऽपि विज्ञै-
ज्ञेयो जिनप्रवचनानुमितिप्रमाभ्यां ।
तस्यैव वा व्यवहितप्रतिपत्तिकारि
प्रत्यक्षमानुभाविकं क्रमशः प्रयोज्यं ॥ २० ॥

अर्थ—यह आत्मा स्पर्शन रसना आदि इंद्रियोंके अगोचर है-उनसे कभी

प्रत्यक्षा यमिनो भवत्यनुपमा लक्ष्मीर्विलंबं विना॥२१॥

अर्थ—जो मुनिगण, भगवान जिनेंद्रद्वारा प्रतिपादित आगमसे भलेप्रकार ज्ञापित आत्माको अपने मनमें निश्चलरूपसे धारण कर और अनुमान प्रमाणसे भी उसका ज्ञानकर निर्णय करते हैं पश्चात् उसै साक्षात् देखनेकेलिये अनुभव प्रत्यक्षका अभ्यास करते हैं वे थोड़े ही कालमें अनुपमलक्ष्मी-मोक्षलक्ष्मीको प्रत्यक्ष करलेते हैं- बहुत जल्दी उन्हें मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है ॥ २१ ॥

विद्यंते कति नात्मबोधविमुखाः संदेहिनो देहिनः

प्राप्यंते कतिचित्कदाचन पुनर्जिज्ञासमानाः कचित्।

आत्मज्ञाः परमप्रमोदसुखिनः प्रोन्मीलदंतर्दृशो

द्वित्रा स्युर्बहवो यदि त्रिचतुरास्ते पंचषा दुर्लभाः ।२२।

अर्थ—इस संसारमें प्रायः सब जीव आत्मबोधसे विमुख हैं यदि कोई कदाचित आत्माको जानते भी हैं तो वे आत्मा क्या है ? किसै आत्मा कहते हैं ?'

इसी संदेहमें उलझ रहे हैं इसलिये उनको भी यह स्पष्ट ज्ञान नही कि वास्तविक आत्मा क्या पदार्थ है। कई एक उसके स्वरूप जाननेके अभिलाषी कहीं किसी कालमें उसे जान भी लेते हैं परंतु जो वास्तविक आत्माके स्वरूपके जानकार हैं-आत्मज्ञानसे उत्पन्न हुये प्रमोदसे हर्षायमान हैं और जिनकी दृष्टि वाह्य पदार्थोंसे सर्वथा हटकर निज आत्माकी और झुक गई है ऐसे महानुभाव दो ही तीन वा तीन चार ही हैं और पांच या छै मिलने तो अत्यंत दुर्लभ हैं। भावार्थ– संसारमें आत्माके स्वरूपका जानना अतिकठिन है क्योंकि एक तो जीव, रात दिन अपनी इंद्रियोंके विपय पोपणमें लगे रहते हैं इसलिये वे इंद्रियोंके विषयोंके सिवाय अन्य किसी पदार्थको जानते ही नहीं दूसरे कदाचित् इंद्रियोंके विषयोंसे विमुख होकर पदार्थोंका खोज भी करै तो इसी संदेहमें उलझ जाते हैं कि आत्मा किस पदार्थको ठहरावें और उसका स्वरूप क्या निश्चित करै ? खैर! संदेहको दूरकर देश कालके योग्य मिल जानेपर उसका स्वरूप जान जांय तो उसके स्वरूपके ज्ञानसे उत्पन्न हुये आनंदसे आनंदित और उसकी ओर सर्वथा उन्मुख दो तीन वा बहुतसे बहुत तीन चार होंगे पांच वा छै मिलने तो नितरां दुर्लभ हैं ॥२२॥

ये धर्मध्वजिनोऽत्र तीर्थपुलिनध्वांक्षा जडा दांभिकाः
मज्जंतो वकवद्भयार्तकपिवद्दृग्मीलकोन्मीलकाः।
आत्मन् ! दुर्जय जंजपूकवदनाः कुर्वंत्यनात्मस्पृशो
मिथ्यैवांगुलिपर्वखर्वगणनां तैः संगतिं मा कृथाः॥२३॥

अर्थ—हे आत्मन् ! इस संसारमें धर्मकी ध्वजा धारण किये हुये—अपनेको साक्षात् धर्मका स्वरूप माननेवाले जो तीर्थोंके काक पंडे दृष्टिगोचर होते हैं वे महा जड़ हैं अत्यंत मायाचारी बकके समान गंगा आदि नदियोंमें डुबकी लगानेवाले, भयभीत बंदरके समान आखोंके खोलने बंद करनेवाले. मिथ्या जप जपनेवाले और आत्माकी ओर जरा भी न निहारने वाले हैं। तथा परमात्माके नामके बहानेसे व्यर्थ ही वे अपनी अंगुलियोंके घटने गिनते हैं इसलिये तू उनके साथ जरा भी सहवास न कर। भावार्थ—बहुतसे मूढ पुरुप तीर्थोंके पंडोंको धर्मका स्वरूप मान पूजते हैं उन्हें अपना सर्वस्व अर्पण करनेपर भी बड़े प्रसन्न होते हैं। परंतु यह

उनकी वड़ी भारी भूल है क्योंकि वे लोग अपनेको देवका पुजारी वा धर्मका भक्त बता भोले लोगोंको फुसलाकर शिकार करनेवाले हैं। महामूर्ख, महा मायाचारी, स्वार्थकेलिये नदीमें गोता मारनेवाले, व्यर्थ जप जपनेवाले, दिखानेकेलिये अंगुलियोंके घटना गिननेवाले और आत्मज्ञानसे सर्वथा पराङ्मुख हैं। इसलिये वे जरा भी सहवासके योग्य नहीं। आत्मन्! यदि तू इनके साथ सहवास करैगा तो संसाररूपी अगाध समुद्रमें सदा गोता खाता रहैगा ॥ २३ ॥

मुंडैर्दंडधरैः शिखंडिभिरभिस्फूर्जज्जटामंडलैः
काषायांबरचर्मकंबलधरैर्नाग्न्यादिभिर्मुद्रितः।
आ पाखंडिपरंपरासु भवता शैलूषनाट्योपमै-
र्वेषैरात्मविडंबनं कृतमहो नात्मप्रबोधः कृतः ॥ २४ ॥

अर्थ—रे आत्मन्! जिसप्रकार नाटकके अंदर नट, कभी स्त्रीका वेष धारण करता है तो कभी राजा वा रंकका, उसीप्रकार कईबार तू शिर घुटाकर साधु, दंडी

प्रकार स्वरूप न जानकर वाहवाही चाहनेकेलिये वा दूसरोंके रिझानेकेलिये ही रक्खा और (आत्मज्ञानकी प्राप्तिकेलिये किसीप्रकारका प्रयत्न न कर) उसै निराकुलतामय सुखका लाभ न होने दिया ॥ २४ ॥

दीप्तोत्तप्ततपःपरीषहजयोद्योगैर्नियोगोद्यमैः
सद्भिक्षुप्रतिमाभिरप्यनशनैर्मासोपवासादिभिः ।
कायक्लेशभरैः प्रयाति कृशतां कायो न कर्मोच्चय-
स्ते कर्मक्षयहेतवस्तव तदा स्वस्थो यदा स्यास्यति॥२५॥

अर्थ—हे आत्मन् ! यदि तू आत्मस्वरूपमें लीन नहिं होगा तो तू चाहे कैसे भी प्रचंड और संताप देनेवाले तप कर, उग्रसे उग्र भी परीषहोंको जीत, भले-प्रकार मनोयोग धारणकर, मुनिमुद्रा उपवास और मासोपवास भी कर परंतु इन कायक्लेशोंसे तेरा शरीर ही कृश होगा कर्मोंका ढेर जरा भी न घटैगा । हां यदि तू तप आदि आचरण करता हुआ अपनी आत्मामें लीन रहैगा तो तेरे ये

किये हुये तप आदि कार्य कर्मोंके नाशक हो जांयगे-आत्मामें लीनताके साथ किये हुये तप आदिसे तेरे समस्त कर्म नष्ट हो जायंगे। भावार्थ–कर्मोंके नाश करनेमें सबसे मुख्य कारण तो आत्मस्वरूपमें लीनता है, तप आदि तो वाह्य वा गौण कारण हैं क्योंकि, यदि आत्मस्वरूपमें लीनता न हो और तप आदि आचरण किये जांय तो उनसे कर्म एक रत्तीभर भी कम नहिं होते, उल्टा शरीर ही कृश होता चला जाता है। इसलिये रे आत्मन्! तुझै चाहिये कि तू आत्मस्वरूपमें लीनताके साथ तप आदिका आचरण करै ॥ २५ ॥

ग्रीष्मे शैलशिलासु तीव्रतपनोत्तप्तासु तप्तं त्वया
प्रावृट्-कालकरालमेघपटलादंगीकृता वृष्टयः।
सोढाः प्रौढ़तुषारपातपरुषाः शीतर्तुवातोर्मयो
नांतर्बोधकृतश्रमो यदि भवानेष श्रमो निष्फलः ॥२६॥

अर्थ—हे आत्मन्! तूने ग्रीष्मकालमें धूपसे अतिशय तप्तायमान पर्वतोंकी

शिलाओं पर वैठकर उग्रतप भी तपा, वर्षाकालमें विकराल मेघोंसे उत्पन्न हुई वर्षा-के जलका भी दुःख भोगा, शीतकालमें तुषारके संबंधसे तीक्ष्ण ठंडे प्रचंड पवनके झकोरे भी सहे, परंतु यदि तूने अंतर्बोध आत्मज्ञानकेलिये कभी प्रयत्न न किया तो वे सब तेरे निष्फल-निष्प्रयोजन हैं। भावार्थ—जो मनुष्य मुमुक्षु हैं-मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं, वे विना आत्मस्वरूपके ज्ञानके लिये प्रयत्न किये चाहैं कैसे भी पर्वतकी शिलापर वैठकर उग्रतप क्यों न करैं, वर्षाकालमें विकराल मेघकी धाराओंसे भी क्यों न अपने शरीरको कष्ट दें वा अपने तीक्ष्ण झकोरोंसे शरीरको चीरनेवाले शीतलकालके पवनका भी दुःख क्यों न भोगैं, कभी मोक्ष प्राप्त नहिं कर सकते। इसलिये आत्म ज्ञानकी प्राप्तिकेलिये विना प्रयत्न किये घोर तप आदिका तपना व्यर्थ है ॥२६॥

गर्वोग्रग्रहलंघितोऽस्यासि महाहंकारवातार्दितो—
मोहोन्मादहतोऽसि हंत ममतामैरेयमत्तोऽसि च ।
तेनात्मन् प्रतिबोधशून्यविबुधंमन्य ! त्वमन्यैः समा

मूढैः पंडितमानिभिः कलकलोत्तालाकुलै युध्यसे॥२७॥

अर्थ—रे आत्माज्ञानसे रहित भी अपनेको प्रवल पंडित मानने वाले आत्मन्! महामूढ़ और अपनेको भी प्रवर पंडित समझनेवाले मनुष्योंके साथ जो तू उत्ताल शब्दोंसे युद्ध करता है–वाद विवाद करता है उससे ऐसा जान पड़ता है कि तू महाभयंकर गर्वरूपी ग्रहसे दबा हुआ है। अहंकाररूपी महाप्रवल वातसे पीडित है। मोहरूपी उन्मादसे उन्मत्त और ममता रूपी मदिरासे विवेकशून्य हो रहा है! भावार्थ–हे आत्मन्! यदि तुझे सच्चा आत्माका ज्ञान है तो तू सरल परिणामी, धर्मसे प्रेम रखनेवाले मनुष्योंको उपदेश दे उन्हैं ही आत्माके स्वरूप-का ज्ञान करा परंतु प्रचंडपरिणामी विवादियोंके साथ विवाद मत कर। क्योंकि, वे महाजड़ और अपनेको पंडित माननेवाले हैं इसलिये तेरे सत्य भी उपदेशका उनपर असर नहिं पड़ सकेगा। यदि ऐसा जानकर भी तू उनके साथ विवाद करै तो इसमें कोई संदेह नहीं, कि तू महागर्विष्ठ महा अहंकारी, महामोही और अपनेको अद्वितीय पंडित मानने वाला है॥ २७॥

किं वादेन वितंडया किमनया जल्पैरनल्पैश्च किं
भ्रूभंगांगुलिभंगभांगिचपलैश्चर्चाविचारैश्च किं।
संजातः पशुरेव कर्कशबहिस्तर्केण बाह्यो भवान्-
तस्तर्कमधीष्व किंचिदुदयत्यात्मप्रबोधो यतः ॥२८॥

अर्थ—हे आत्मन्! यदि तू आत्मप्रबोध प्राप्त करना चाहता है-अपनी आत्माके स्वरूपका भलेप्रकार ज्ञाता बनना चाहता है तब न तो तुझै वाद करनेकी आवश्यकता है। न वितंडा और जल्प कथासे ही कोई प्रयोजन है, भौंहैं चलाकर और अंगुली घुमाकर चर्चा और विचार करनेसे भी कुछ लाभ नहीं क्योंकि ये सब बाह्य तर्क हैं और इनके करनेसे तू पशु-अज्ञानी और आत्मज्ञानसे शून्य समझा जायगा। तू तो अंतरंग तर्कका आश्रयकर-अपनी दृष्टिको अंतरंगकी ओर लगा, जिससे तुझे आत्माका ज्ञान हो और उसके स्वरूपको समझ निकले। भावार्थ—जिसमें प्रमाणके द्वारा साधन या दूषण बताये जांय, जो सिद्धांतके विरुद्ध न हों, व जिसमें प्रतिज्ञाहेतु आदिका

अवलंबन और पक्ष प्रतिपक्षका ग्रहण हो, वह वाद है। जिसमें वादकी सब सामग्री रहै और किसी एक प्रयोजनीय अर्थके लिये शब्दका प्रयोग होनेपर उसका छलसे दूसरा अर्थ कर दिया जाय (अर्थात् किसीने किसीको नवकंबलवाला कहा, वहां वक्ताका तात्पर्य तो यह था कि इसके पास नवीन कंबल है क्योंकि नव शब्दका अर्थ नया और नौ दोनों होता है परंतु प्रतिवादी द्वारा-नवका नौ अर्थकर यह विचारा महादरिद्र है इसके एक भी कंबल नहीं नौ तो कहांसे आये ! ऐसा प्रकट करदेना आदिका प्रयोग किया जाय) उसका नाम जल्प है और जहांपर द्वितीय पक्षवादी वैतंडिकका कोई पक्ष न हो वह सत् असत् सब सिद्धांतोंमें दूषण लगाने वाला हो उसका नाम वितंडा है। इसप्रकार बहुतसे लोग वाद जल्द वितंडासे, भौंके चलाने और अंगुली घुमानेसे चर्चा विचार करते हैं। परंतु ये सब तर्क बाह्य तर्क है इनसे आत्माका ज्ञान नहिं हो सकता। आत्माका ज्ञान आत्माकी ओर दृष्टि लगानेसे ही होता है इसलिये हे आत्मन् ! तुझै उसीकी ओर दृष्टि लगाना चाहिये ॥ २८ ॥

हुंफट्कारवषट्पुरःसरमहामंत्रैः परानद्भुतै-
भूंतोत्थज्वरशाकिनीग्रहहतानुन्मोदयन् तृप्यसि
आत्मानं पुनरुद्धतस्फुरदहंकारग्रहोल्लंघितं
नैवोल्लंघयितुं दधासि हृदये सन्मंत्रबीजाक्षरं ॥२१॥

अर्थ—आत्मन् ! जो जीव भूत पिशाच आदिसे उत्पन्न हुये ज्वरसे ग्रस्त हैं जिनके ऊपर शाकिनी डांकिनी ग्रह आदिका पूरा पूरा प्रकोप है उन्हें तू हुं फटक्कार और वषट् आदि महामंत्रोंसे आनंदित करता हुआ तृप्त करता है-अपने महामंत्रोंके बलसे उनके भूत आदिसे उत्पन्न विकारोंको सर्वथा दूर कर देता है परंतु न मालूम उद्धत और प्रचंड अहंकार रूपी ग्रहसे ग्रस्त अपने आत्माको वश करनेकेलिये तू बीजाक्षर महा पवित्र मंत्रको हृदयमें क्यों धारण नहिं करता । भावार्थ—जब तक इस आत्मा पर अहंकार रूपी ग्रहका प्रकोप रहैगा तब तक यह आत्मा अपने आनंदमय स्वरूपका अनुभव नहिं कर सकता इसलिये हे आत्मन् ! तू ऐसे परम पवित्र बीजा-

क्षर महामंत्रका आराधन कर, जिससे यह तेरा अहंकार ग्रह नष्ट होजाय परंतु अपनी वाहवाहीकेलिये वा अन्य पुरुषोंके रंजायमान करनेकेलिये तू भूत पिशाच डांकिनी आदिकी बाधाओंको दूर करनेवाले हुं फट्कार वषट् आदि मंत्रोंका अभ्यास मत कर। याद रख इनके अभ्याससे तेरी आत्माका कभी कल्याण नहीं हो सकता ॥ २९ ॥

स्तोकेनाविशदेन संशयवता किं पोतकीपिंगला–
काकादिव्यभिचारिशाकुनपरिज्ञानेन निश्चीयते
स्वस्थं सद्गतिदिव्यनादपरमानंदोदयं बुध्यसे
हसं चेदिह किं न किं कलयासि स्वाधीनबोधस्तदा ॥३०॥

अर्थ–आत्मन्! तू शकुनके ज्ञानको प्रकर्ष ज्ञान मानता है परंतु वह बिलकुल थोड़ा है। महा मलिन अपवित्र, संशय उत्पन्न करने वाला और कबूतरी बगलोंकी पंक्ति और काक आदिका व्यभिचारी है–अर्थात् शकुनी मनुष्य कभी

कभी यह पूर्ण निश्चय नहिं कर सकता कि कबूतरी बक आदिके सामने पड़ जानेसे क्या फल होगा ! इसलिये तू उस ज्ञानसे कभी भी किसी बातका निश्चय नहीं कर सकता यदि तुझे अपने स्वरूपमें लीन, उत्तम गति, दिव्यध्वनि और अतिशय आनंदसे मंडित आत्माका ज्ञान है तो तू उसीसे सब बातोंका निश्चय करसकता है । क्योंकि उससमय तेरा ज्ञान स्वाधीन-आत्मिक है

भावार्थ-जब तक आत्माको स्वाधीन बोध प्राप्त नहिं होता तब तक वह निस्सन्देह होकर किसी भी पदार्थका निश्चय नहिं कर सकता तथा इसका लाभ स्वस्थ, उत्तमगति और दिव्यध्वनिके धारक, एवं आनंद स्वरूप आत्माके निश्चयसे होता है । इसलिये हे आत्मन्, यदि तू वास्तविक सब पदार्थोंका निश्चय करना चाहता है तो इसी स्वाधीन ज्ञानका तू लाभ कर। व्यर्थके शकुनज्ञानमें मत फँसै क्योंकि वह ज्ञान स्तोक-बिलकुल थोड़ा ज्ञान है । अविशद-परोक्ष, और संशय करनेवाला है तथा कबूतरी आदिके सामने पड़जानेसे, समझ तो कुछ और शकुन लिया जाता है और हो कुछ और ही जाता है इसलिये व्यभिचारी है ॥ ३० ॥

कमल आदि पदार्थोंके रूप रस आदि गुणोंका वर्णन करना ही अपना सर्वस्व समझते हैं और नवीन काव्योंकी रचना कर अपने पांडित्यका प्रसार करते हैं किंतु जिस समय उन्हें अपनी आत्माका असली ज्ञान होजाता है उससमय वे यह समझकर कि नील कमल आदि वाह्य पदार्थोंके गुण वर्णन करनेसे केवल पापका ही संचय होता हैं उनका सर्वथा वर्णन करना छोड़ देते हैं इसी बातको हृदयमें धारण कर ग्रंथकार कवियोंको उपदेश देते हैं कि–हे कवियो ! जबतक तुम्हें असली आत्माके स्वरूपका ज्ञान नहिं होता तभी तक तुम नीलकमल आदि वाह्य पदार्थोंके गुणोंका वर्णन करते हो और नवीन काव्य बनाकर अपनी वाचलता प्रगट करते हो किंतु जिससमय तुम्हें असली आत्माके स्वरूपका ज्ञान होजायगा उससमव तुम वाह्य पदार्थोंका व्यर्थ वर्णन भी न करोगे और नवीन २ काव्योंके बनानेमें जो तुम्हारा वावदूकपना है वह भी एक ओर किनारा कर जायगा ॥३१॥

अत्यंतं वाहिरंगरंगरासिकास्त्यक्तात्मसंवित्तयः
संख्यातुं कतिं यांति ये तु कृतिनो जिज्ञासवः केचन

कार्या तैरहितान्निवृत्तिरनु च प्राप्तिः प्रयत्नैर्हिते
दुखोदर्कमिहाहितं सुखरसोदर्कं हितं तर्क्यतां ॥३२॥

अर्थ–जो मनुष्य रंग विरंगे वाह्य पदार्थोंके रंगमें रंग रहे हैं और आत्माके वास्तविक ज्ञानसे सर्वथा विमुख हैं ऐसे मनुष्योंकी यदि गणना की जाय तो बहुतसे मिलेंगे परंतु जो मनुष्य कृति–धर्मात्मा हैं और जिज्ञासु–असली तत्त्वोंका खोज करना चाहते हैं ऐसे मनुष्य कोई विरले ही होंगे, इसलिये जो मनुष्य वस्तुके यथार्थ स्वरूपके जाननेके अभिलाषी हैं उन्हें चाहिये कि वे अहितसे बचें और बड़े प्रयत्नसे हितमें प्रवृत्ति करें क्योंकि आगे अहितसे दुःख होता है और हितसे सुखकी प्राप्ति होती है। भावार्थ–प्रायः यह देखनेमें आता है कि बहुतसे मनुष्य वाह्य पदार्थोंकी चटक मटकमें ही उलझे रहते हैं-उन्हें ही अपने परम हितकारी मान अहोरात्र उनकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करते रहते हैं इस रीतिसे उन्हें आत्माके असली स्वरूपका ज्ञान भी नहिं होता–वे सर्वथा आत्मस्वरूपके ज्ञानसे विमुख रहते हैं इसलिये यदि गणना करके देखा जाय तो ऐसे ही मनु-

ष्य बहुत मिलेंगे जो बाह्य पदार्थोंके रंगमें रंगे हों किंतु धर्मात्मा और असली तत्त्व-के खोज करने वाले कोई एक विरले ही दृष्टि गोचर होंगे तथा संसारमें सुख भी उस समय हो सकता है जब कि बुरे कामोंसे निवृत्ति और अच्छे कामोंमें प्रवृत्ति होगी इसलिये विवेकियोंको चाहिये कि वे पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप जानकर अहितसे मुख मोड़ें और हितकी ओर झुकें क्योंकि हितसे कल्याण और अहितसे अकल्याण होता है ॥ ३२ ॥

अस्वाधीनमसारमंतविरसं दुःखप्रदं वाऽयतो
शास्त्रे प्रस्तुतमत्र निर्वृतिपथे सौख्यं न सांसारिकं
स्वाधीनं निरुपाधि वाधरहितं निःसीम यत्तत्सुखं
विद्यां तज्जननीं हिताय समुपादद्यादविद्यां त्यजेत् ॥३३॥

अर्थ—संसार सुख पराधीन, असार, अंतमें विरस, और उत्तरकालमें दुःख देनेवाला है इसलिये शास्त्रकारोंने मोक्षके मार्गस्वरूप शास्त्रोंमें संसारके

सुखको सुख नहिं वतलाया है किंतु जो सुख स्वाधीन, सारभूत, राग द्वेष आदि उपाधि और वाधाओंसे रहित एवं असीम है, वही वास्तविक सुख है। इसलिये जो मनुष्य इस उत्तम सुखको प्राप्त करना चाहते हैं वे आत्माके हितके लिये उस सुखकी जननी-उत्पन्न करनेवाली विद्याका अवलंबन करें और उसको प्राप्त न कराने वाली अविद्याका सर्वथा त्याग कर दें। भावार्थ--संसारमें जो सुख इंद्रियोंसे जन्य है, उसे लोग सुख मानते हैं परंतु वह सुख, सुख कदापि नहिं हो सकता, क्योंकि वह धन स्त्री वा इंद्रिय आदि पदार्थोंसे उत्पन्न है। इसलिये पराधीन है निस्सार है परिणाममें कड़वा है इंद्रियजन्य सुख पहिले तो मीठा लगता है परंतु पीछे उससे भयंकर दुख भोगने पड़ते हैं। और आगमिकालमें भी दुःखका देनेवाला है परंतु जो सुख मोक्षमें प्राप्त होता है, वह वैसा नहीं क्योंकि वह आत्माधीन है, रागद्वेप आदि दुःखदायी उपाधियोंसे रहित है, अव्यावाध स्वरूप और असीम है, इसलिये उत्तम सुखके प्रेमियोंको चाहिये कि—वे इस अनुपम सुखकी उत्पन्न करनेवाली विद्याका अवलंबन करै और जिससे वह सुख न उत्पन्न हो सकै

ऐसी अविद्याका संबंध सर्वथा छोड़ें दे ॥ ३३ ॥

या सद्दर्शनबोधचारुचरिता साध्यात्मविद्या परा
विद्या स्यादथ वैपरीत्यविहितस्पंदामविद्यां विदुः
एषा नात्महितेति दुःखनिकरक्ष्वेडांकुरोत्पादिनीं
क्षेमार्थी विषकंदलीमिव समुच्छिद्याद्बुधो नेतरः॥३४॥

अर्थ—जो विद्या सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रसे भूषित है वह अध्यात्मविद्या-आत्माके वास्तविक स्वरूपको बतलानेवाली, उत्कृष्ट विद्या है परंतु जो मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रसे कलंकित है, और बाह्य पदार्थोंमें रिझानेवाली वह अविद्या है । एवं यह अविद्या नानाप्रकारके दुःख रूपी अंकुरोंको उत्पन्न करनेवाली विषवृक्षकी लताके समान है इसलिये जो पुरुष विद्वान हैं-आत्माका वास्तविक स्वरूप प्राप्त करना चाहते हैं, वे तो यह जानकर कि अविद्यासे कभी आत्म कल्याण नहिं हो सकता इसका सर्वथा त्याग कर देते हैं

किंतु जो मनुष्य मूढ हैं-इंद्रियोंका पोषण करना ही सब कुछ समझते हैं, वे इसीमें लीन बने रहते हैं ॥ ३४ ॥

या चित्तभ्रममूलसंचयवती मिथ्यालवालोत्थिता
यस्या मोहतरुर्विकल्पवलनैरारोहणायाश्रयः
रागाद्या नव पल्लवानि विषयाः पुष्पाणि पापं फलं
संसारप्रसरेण सा जगदपि व्याप्नोत्यविद्यालता ॥३५॥

अर्थ—यह अविद्या मानिंद लताके है क्योंकि भ्रांति–विपरीत ज्ञानरूप तो इसकी मजबूत जड़ है। मिथ्यात्वरूपी आलवाल-क्यारी है । मोहरूपी वृक्ष आश्रय है जिसपर कि नानाप्रकारके संकल्प विकल्परूपी मोड़े देकर चढ़ा जाता है । राग द्वेष आदि नवीन २ पल्लव हैं। इंद्रियोंके विषय-पुष्प और पाप-फल हैं तथा प्रायः यह समस्त संसारमें फैली हुई है इसलिये अपने फैलावसे इसने समस्त जगत व्याप्त करलिया है। भावार्थ—अविद्यासे पदार्थोंमें भ्रांति-कुछका कुछ ज्ञान हो

जाता है। मिथ्याश्रद्धान्, मोह, नानाप्रकारके विकल्प, राग द्वेष क्रोध मान आदि, इंद्रियोंके विषयोंमें प्रवृत्ति, और पापोंकी उत्पत्ति होती है इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि वे अविद्यारूपी विशाल शत्रुसे बचैं और परम कल्याणकारी अध्यात्मविद्याको अपनावें ॥ ३५ ॥

सूक्ष्मे सन्निहितेऽपि वस्तुनि नृणां दृष्टिं तिरस्कुर्वती
संदेहं च विपर्ययं च चिदचिद्रूपद्वये तन्वती
कुर्वाणा सकलं सदप्यसदिति स्वच्छात्मचंद्रोदयं
मिथ्यातामसकृष्णपक्षरजनी लुंपत्यविद्या बलात् ॥३६॥

अर्थ—यह अविद्या पासमें रक्खे हुये सूक्ष्म पदार्थको नहिं जानने देती। चेतन और अचेतन दोनोंप्रकारके पदार्थोंमें संदेह वा भ्रम करा देती है और विद्यमान भी निर्मल आत्मारूपी चंद्रमाके उदयको अविद्यमान सरीखा कर देती है इसलिये यह मिथ्यात्वरूपी घोर अंधकारको धारण करनेवाली अंधेरी रात है।

भावार्थ–जिसप्रकार अंधेरी रातमें पासमें रक्खा हुआ भी पदार्थ दृष्टि गोचर नहिं होता, स्पष्टरूपसे न दीखनेके कारण सीप चांदी, चांदी सीप, रस्सी सर्प, सर्प रस्सी, व सूखा ठूंठ पुरुष मालूम होने लगता है और विद्यमान भी चंद्रमा अविद्यमान सरीखा जान पड़ता है उसीप्रकार इस विद्याके होनेपर पासमें रक्खा हुआ भी पदार्थ, पूर्णरूपसे ज्ञात नहिं होता, ज्ञात भी होता है तो उसका विपरीत ज्ञान वा यह क्या है ? ऐसा संदेहात्मक ज्ञान होजाता है किंतु परम शुद्ध निष्कलंक आत्माका भान नहिं होता ॥ ३६ ॥

रागं रत्यभिषंगरंगरासिकं दृग्विभ्रमैः कुर्वंती
चारित्रेण सहापहृत्य सहसा विद्याविवेकोन्नती
निष्पापं कुलमंगनेव मदनोन्मादैरविद्या हठात्
पापं कारयति प्रपातयति च श्वभ्रांधकूपे नरं ॥ ३७ ॥

अर्थ–यह अविद्या व्यभिचारिणी स्त्रीके समान है क्योंकि व्यभिचारिणी स्त्री

जिसप्रकार मनुष्यको अपने कटाक्षपातसे रतिक्रीड़ाके रसकी चाहना करानेवाले रागको उत्पन्न करती है उसीप्रकार अविद्या भी मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और रतिक्रीड़ाके रसकी चाहना करानेवाले रागको करती है । व्यभिचारिणी स्त्रीके संबंधसे जिसप्रकार चारित्र विद्या और विवेक एक ओर किनारा कर जाते हैं । उसीप्रकार अविद्याके संबंधसे भी चारित्र विद्या और विवेक नष्ट हो जाते हैं । व्यभिचारिणी स्त्री जिसप्रकार कामके उन्मादसे निष्कलंक कुलको कलंकित बना देती है उसीप्रकार अविद्या भी निर्दोष कुलको सदोष बना देती है और व्यभिचारिणी स्त्री जिसप्रकार मनुष्यको नरककूपमें डाल देती है उसीप्रकार अविद्या भी मनुष्यको नरक कूपमें डुबानेवाली है ॥ ३७ ॥

किं स्वप्नेन किमिंद्रजालकलया विद्युद्विलासेन किं
छायाक्रीडनकेन किं किममुना यंत्रप्रयोगेण च
किं गंधर्वपुरेण तानि नियतान्यालोकय व्यापिनीं

लोके तत्क्षणदृष्टनष्टविलसच्चेष्टामविद्यालतां ॥ ३८ ॥

अर्थ--हे आत्मन् ! जो तू स्वप्नमें देखे हुये पदार्थोंसे, इंद्रजालकी खूबीसे, विजलीकी चमकसे, तस्वीरोंके देखनेसे, चलते हुये यंत्र और गंधर्व नगरके देखनेसे कौतूहल मानता है सो व्यर्थ है क्योंकि ये नियत हैं-विलकुल थोड़े देशमें वा विलकुल थोड़े काल तक ठहरने वाले हैं इस अविद्याकी ओर क्यों नहिं देखता क्योंकि यह सर्वत्र व्यापक-विद्यमान है और क्षणभर दीखकर नष्ट होनेवाली अनेक चेष्टाओंसे युक्त है । भावार्थ--स्वप्न इंद्रजाल विजली चित्र यंत्र और गंधर्व नगरके देखनेमें जो कुछ चमत्कारी दृष्टि गोचर होती है वह सब अविद्याका ही माहात्म्य है-इंद्रजाल आदि सब अविद्याके ही विलास हैं इसलिये हे आत्मन् ! तू सबकी जननी और सर्वत्र फैली हुई अविद्याको देख, इंद्रजाल आदिको देखकर क्यों भोंचक होता है ! ये सब तो उसके टुकड़े हैं ॥ ३८ ॥

एतस्या ममताकलत्रसहिताऽहंकारनामात्मजः

संकल्पौ स्वपरात्मकावथ तयोः पुत्रौ ततश्चैतयोः
भार्ये रत्यरती सुखासुखसुतप्रोद्भासिते इत्यहो
संतानेन सहाक्षयेण महती नंदत्यविद्या चिरं ॥ ३९ ॥

अर्थ—इस अविद्याका पुत्र अहंकार है। ममता अहंकारकी स्त्री है। अपने संकल्प विकल्प और परके संकल्प विकल्प ये दो अहंकारके पुत्र हैं उन दोनों पुत्रोंकी क्रमसे रति और अरति दो स्त्रियां हैं और उनके सुख दुख दो पुत्र हैं इस प्रकार हे आत्मन्! इस अविद्याका विशाल किंतु अक्षय परिवार है और उसके साथ यह दिनोंदिन वृद्धिको प्राप्त होती रहती है। भावार्थ अविद्यासे अहंकार परपदार्थोंमें ममता, नानाप्रकारके संकल्प विकल्प, रति अरति, राग द्वेष, और सुख दुःख होते हैं और जैसे जैसे अहंकार ममता आदि बढते जाते हैं वैसी वैसी अविद्या भी बढ़ती चली जाती है ॥ ३९ ॥

तर्षाद्धावति धूप्यते श्रमवशान्निद्राति विद्राति च

क्रौर्यात्क्रुध्यति युध्यति प्रहरते रोषाच्च संदीप्यते
हर्षाद्गायति नृत्यति प्रहसति क्रीडत्यसौ चंचलो-
लोकः किं न करोति चंडचपलाविद्यापिशाचीवशः ॥४०॥

अर्थ—प्रचंड चंचल अविद्यारूपी पिशाचीके वशीभूत यह निर्बुद्धि लोक, धन आदिकी तृष्णासे दौड़ता है, धूप सहता है, थक जाता है तो सोता है, बुरी जगह जाता है, क्रूरतासे गुस्सा होता है, युद्ध करता है, रोपसे दूसरोंको मारता है, प्रज्वलित होता है, हर्पसे मत्त हो गाता है, नांचता है, हंसता है, कूदता है, विशेष क्या कहा जाय अविद्यासे यह मनुष्य नीच ऊंच सब प्रकारके काम करता है। भावार्थ-यदि लोकपर अविद्याका प्रभाव न पड़ा होता तो क्यों तो यह तृष्णासे जहां तहां दौड़ता! क्यों धूप सहता! क्यों निद्रा लेता! और निंदित स्थानोंपर गमन करता! क्यों क्रोध करता युद्ध करता मारता और प्रज्वलित होता! और क्यों ही गाता नाचता हंसता और खेलता! परंतु अविद्या पिशाचिनीके

फंदमें पड़कर इसे सब कुछ करना पड़ता है क्योंकि यह लोकको पागल बना देती है ॥ ४० ॥

सोल्लासैः करणैः कृतांगवलनभ्रूलास्यदृग्वल्गितै-
भौवैः सात्विकभावभावितरसैः संचारिभिः स्थायिभिः
शृंगारोत्तरहारिहास्यकरणस्फारामविद्याभिधां
लोकः पश्यत नाटिकां नटनिभो नित्यं नरीनृत्यते ॥४१॥

अर्थ—जिसमें समस्त इंद्रियां हुलसाय मान रहती हैं। शरीरका मटकाना, भौंका चलाना, और कटाक्ष विक्षेप किया जाता है। जहां सात्विक भावोंसे प्रकट किये गये रसोंसे युक्त स्थायी संचारी भावोंका प्रयोग होता है और जो शृंगार आदि रस एवं विशेषकर हास्य रससे सुहावना जान पड़ता है ऐसे इस अविद्या-रूपी नाटकको देखो यह जीव इसी अविद्यारूपी नाटकमें सदा नृत्य करता रहता है। भावार्थ–इस लोकपर अविद्याका ऐसा प्रभाव पड़ा हुआ है कि यह मूढ बन

गया है कभी यह इंद्रियोंका प्रिय काम करता है कभी किसीकी भलाई तो कभी किसीकी बुराई करता है और कभी कभी शृंगार आदि रसोंमें मग्न रहा आता है परंतु कल्याणकारी आत्मस्वरूपके जाननेका कभी प्रयत्न नहिं करता ॥ ४१ ॥

कामक्रोधमदादिदुःपरिणतिप्रायं पृथक्कर्म मे
कायस्तज्जनितो मम व्यवहितस्तेनार्जितो यः किल
दूरे वाह्यपरिग्रहः स इति हि प्रत्येतुमर्होऽपि सन्
एतत्सर्वमविद्यया परवशो न त्वं पृथग्मन्यसे ॥ ४२ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! तू इस वातको खूव जानसकता है कि काम क्रोध मद आदि निंदित परिणामोंका धारक कर्म मुझसे जुदा है। यह जो मेरा शरीर है वह कर्मसे उत्पन्न हुआ है इसलिये यह भी मुझसे भिन्न है। शरीरसे उपार्जन किये धन गाय भैंस स्त्री आदि वाह्यपरिग्रह भी मेरे नहीं-मुझसे सर्वथा पृथक् हैं परंतु तू अविद्याके विलकुल परवश हो रहा है-उसने तेरे ऊपर अपना पूरा २ प्रभाव जमा रक्खा

है इसलिये न उन्हें भिन्न नहिं समझता-आत्मा कर्म और शरीर आदि पदार्थ पृथक् ही हैं यह मानता है। भावार्थ-कर्म शरीर स्त्री पुत्र आदि पदार्थ सर्वथा भिन्न हैं क्योंकि आत्मा चेतन है और कर्म आदि जड़ हैं इसलिये वे कभी एक हो ही नहिं सकते तथा आत्मा और कर्म आदिकी भिन्नताको यह आत्मा जान भी सकता है परंतु अविद्याके प्रबल पर्देने इसकी समीचीन ज्ञान शक्तिको ढक रक्खा है इसलिये इसे उनकी भिन्नताका भान होना जरा कठिन है ॥ ४२ ॥

आत्मन् ! सन्निधिनैव तिष्ठति सदा विद्या जगत्पावनी
सच्चारित्रसुदर्शनोज्वललसत्तेजोभिरुद्भासिता
एनां मुञ्चसि किं सतीं किमसतीं दुष्टामविद्यां मुहुः
सर्वत्र व्यभिचारिणीं रमयसे हहो विवेकस्तव ॥ ४३ ॥

अर्थ — हे आत्मन् ! समस्त जगतको पवित्र करनेवाली और सम्यक् चारित्र और सम्यग्दर्शन रूपी अतिशय निर्मल तेजसे देदीप्यमान यह विद्या सदा तेरे स-

मीपमें ही रहती है परंतु इस सती साध्वी विद्याको तो तू छोड़ देता है और महा दुष्टिनी सर्वत्र व्यभिचारिणी-सब जगह दृष्टि गोचर होनेवाली अविद्याके साथ आनंद रमण करता है !!! बस, देख लिया तेरा विवेक-हित अहितका ज्ञान ? भावार्थ-जिसप्रकार अनेक गुणोंसे भूपित सती साध्वी अपनी स्त्रीको छोड़कर महा व्यभिचारिणी अनेक दोषोंकी खान वेश्या आदिके साथ रमण करनेवाला पुरुष महा निंदित नीच गिना जाता है उसीप्रकार हे आत्मन् । तू भी महा नीच और निंदित है क्योंकि जो विद्या समस्त जगतको पवित्र करनेवाली है । सम्यग्दर्शन आदि उत्तमोत्तम गुणोंसे "पित, निर्दोष और सदा तेरे पास रहती हैं उसकी ओर तो तू झांक कर भी नहिं देखता किंतु अनेक दोषोंकी खान, सर्वथा अहित करनेवाली और समस्त संसारमें फैली हुई अविद्यासे प्रेम करता है तथा तिसपर भी यह कहता है कि मैं बड़ा विवेकी हूं बस रहने दे, तेरे ऐसे विवेकके लिये हजार बार धिक्कार है ॥ ४२ ॥

रागद्वेषविषान्नपोषविषमा स्पर्शादिभिर्जीवहृत्

त्यक्तव्या विषकन्यकेव नियतं दूरादविद्या त्वया
एह्येहि श्रुतिशुक्तिपात्रनिहितां संतर्पणायात्मनो-
निर्वाणामृतसारपूर्णकलशीमध्यात्मविद्यां पिव ॥ ४४ ॥

अर्थ—हे आत्मन्। यह अविद्या रागद्वेषरूपी विषमय अन्नकी पुष्टिसे महा विषम और स्पर्श करते ही प्राणोंकी हरण करनेवाली विषकन्याके समान है इसका तू सर्वथा त्याग करदे और यहां आ, देख यह शास्त्ररूपी सीपके स्वच्छपात्र-पर रक्खी हुई निर्वाणरूपी महामिष्ट अमृतरसकी भरी हुई कलशी, अध्यात्म विद्या मोजूद है अपनी आत्माकी तृप्तिकेलिये इसे पी। भावार्थ—जिसप्रकार सर्पिणी विषके उत्पन्न करनेवाली चीजोंके खानेसे महा भयंकर और स्पर्श करते ही प्राण हरनेवाली होती है उसीप्रकार यह अविद्या भी राग द्वेषसे विषम और जीवनको नष्ट करनेवाली है—अर्थात् राग द्वेषके चक्रमें पड़कर अनंतकाल संसारमें घूमना और आत्माके स्वरूपसे वंचित रहना पड़ता है इसलिये हे आत्मन्? तू इस महा-

निकृष्ट अविद्याका संबंध छोड़ दे और आत्माको तृप्त करनेवाली अतिशयस्वच्छ सीपके पात्रपर रक्खी हुई महामिष्ट अमृतजलकी भरी हुई कलशीके समान भले-प्रकार शास्त्रोंमें वर्णित इस अध्यात्मविद्याका रसास्वादन कर ॥ ४४ ॥

जन्मोन्मज्जनमृत्युमज्जनकरी निम्नं नयंती हठात्
घोरापारभवार्णवं नयति या जंतूनविद्या नदी
तस्यामाविश खंडितोत्तमपथा सा दुस्तरोत्तीर्यतां
विद्यानावमवाप्य योगिकमहाकाष्ठोच्चयाधिष्ठितां ॥४५॥

अर्थ–जो अविद्यारूपी नदी जन्मरूपी उन्मज्जन–उछलना और मृत्युरूपी मज्जन-डूबना, करानेवाली है। वल पूर्वक नीचे-तलीमें घसीटकर लेजानेवाली है और इस संसाररूपी अपार समुद्रमें जीवोंको घुमानेवाली है। उसमें जानेका मार्ग उत्तम नहीं इसकारण वह दुस्तर है–जल्दी तिरी नहिं जा सकती इसलिये हे आत्मन् ? तू ध्यान रूपी काष्ठ समूहसे भरी हुई विद्यारूपी नावमें वैठकर उस नदीमें प्रवेशकर।

भावार्थ-जिसप्रकार नदी अपनेमें गिरे हुये मनुष्यको उछालती डुबाती हुई गोता खवाती है। घसीटकर नीचे तलीपर ले जाती है। समुद्रमें लेजाकर छोड़ देती है और दुस्तर है परंतु जो मनुष्य समझदार हैं वे काष्ठसे भरी हुई नावपर सवार हो उसै तिर जाते हैं उसीप्रकार यह अविद्या भी मनुष्यको जन्म मरणका दुःख भुगानेवाली है। नरक ले जानेवाली और इस अपार संसारमें घुमानेवाली है एवं इसके चक्रसे छूटना भी बड़ा कठिन है परंतु जो मनुष्य अध्यात्मविद्याके प्रेमी हैं वे ध्यानके बलसे इसै देखते २ नष्ट करदेते हैं-अध्यात्मविद्याके सामने इसका जरा भी प्रकोप नहिं रहने पाता ॥ ४५ ॥

निद्रातर्षक्षुधार्तिश्रममरणजराजन्मभीमन्मथाद्या–
दोषाः कर्मैकमूलास्तदुपशमनविधिः कर्मणां प्रक्षयेण
हेतुस्तेषामविद्या नयति परमिमामंतमध्यात्मविद्या
सा स्वाधीना तवास्ते प्रतिसमयमनुष्ठीयतामप्रमादात् ॥४६॥

अर्थ—हे आत्मन् ! निद्रा तृष्णा भूंख पीडा थकावट मरना बुढापा जन्म भय और काम आदिक जितने विकार वा दोष हैं वे कर्मसे हैं-उनकी उत्पत्तिमें मूल कारण कर्म है तथा कर्मोंके नाशसे उनका नाश होता है। कर्मोंकी उत्पत्ति अविद्यासे होती है। और अविद्याको नाश करनेवाली अध्यात्म विद्या है जो स्वाधीन और सदा तेरे पास रहती है इसलिये तू प्रमाद रहित होकर उसीका पूर्णरूपसे अभ्यास कर। भावार्थ—वास्तविक सुख, अध्यात्म विद्याकी प्राप्तिसे ही होता है क्योंकि इससे अविद्याका नाश होता है अविद्याके नाशसे कर्मोंका नाश और कर्मोंके नाशसे निद्रा तृष्णा भूख प्यास आदिके जरा भी दुःख नहिं भोगने पड़ते तथा वह अध्यात्मविद्या स्वाधीन है उसमें इंद्रिय आदिकी अपेक्षा नहिं है और वह सदा तेरे पास रहती है इसलिये हे आत्मन् ! तू उसीका ध्यान कर ॥ ४६ ॥

तावत्तापः क्षपयाति वहिः क्लेशहेतुं शरीरं
शैत्यं तावज्जनयति वहिर्बाह्यसौख्यानुपगं

अंतस्तापप्रशमनपटु त्यक्तजाड्यानुबंधं
नांतःशैत्यं परिणमति ते यावदध्यात्मयोगात् ॥ ४७ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! वाह्य संतापके कारण तेरे शरीरको तभीतक ताप सता सकता है । और तभीतक वाह्य शीत भी तेरे लिये वाह्य सुख उत्पन्न कर सकता है । जबतक तेरी आत्मामें अध्यात्मविद्याके ध्यानसे अंतरंग संताप और जड़ताकी नाश करनेवाली अंतरंग शांति प्रकट नहिं होती । भावार्थ—जबतक आत्मामें निराकुलतामय सुख और अखंडज्ञान—केवलज्ञान उदित न होगा तब तक तू इस वाह्यक्लेशके कारण भी शरीरको अपना मान तापसे नितांत दुःख सहैगा । वाह्य भी शीतसे अपनेको सुखी मानेगा परंतु जिस समय अध्यात्मध्यानके बलसे तुझे अविनाशी अंतरंग सुख प्राप्त होजायगा उससमय तेरा समस्त संताप और जड़ता सर्वदाके लिये एक ओर किनारा कर जांयगे ॥ ४७ ॥

आधिकमाधिकृतं वाऽधिष्ठितं वा यदात्म—

न्यधिगमजनितं वा निस्तरंगांतरंगं
निरवधि निरवद्यं वेदनं मुक्तिहेतुः
स्फुटघटितनिरुक्तिः सैवमध्यात्मविद्या ॥ ४८ ॥

अर्थ–जो ज्ञान आत्मामें समस्त ज्ञानोंकी अपेक्षा अधिक हो, अधिकृत–निजाधीन हो, अधिष्ठित–आत्मस्वरूप हो, अधिगमसे उत्पन्न हुआ हो, निश्चल हो अंतरंग हो, असीम, निर्दोष, और मोक्षका कारण हो वही ज्ञान अध्यात्मविद्या है इसप्रकार अध्यात्मविद्याकी यह निरुक्ति बतलाई गई है। भावार्थ–जो ज्ञान सब ज्ञानोंसे अधिक, निजाधीन, आत्मस्वरूप, अधिगमज, निश्चल, अंतरंग, असीम निर्दोष और मोक्षका कारण हो उसै अध्यात्मज्ञान समझना चाहिये और उससे भिन्न सब अविद्या हैं ॥ ४८ ॥

स्वाध्यायध्यानभेदाद्द्विविधविधि तदध्यात्ममाहुर्मुनींद्राः
स्वास्मिन् स्वस्य स्वकं वाध्ययनमिति भवत्यात्मसबद्धमाद्यं

अक्षक्षेपोज्झितांतःकरणपरिणमध्येयनिर्ध्याननिष्ठं
ध्यानं ध्यातुः स्वचित्तेऽचिररचितफलं मोहसंदोहमुक्तं॥४९॥

अर्थ–भगवान जिनेंद्रने अध्यात्मविद्याके दो भेद बतलाये हैं स्वाध्याय और ध्यान, अपनेमें अपनेका (सम्यग्ज्ञान आदिका) वा अपना चिंतवन करना ऐसे आत्मसंबंधी ज्ञानका नाम स्वाध्याय है और बहुत जल्दी उत्तम फल प्रदान करने वाला और मोहका नाशक जो इंद्रियोंके व्यापारसे रहित केवल मनसे ध्येय-आत्माके, स्वरूपका चिंतवन करना है वह ध्यानरूप अध्यात्मविद्या है ॥ ४९ ॥

स्वाध्यायः स्याद्द्वितयविधिना धर्ममोक्षागमेषु
प्रौढाभ्यासो वितरति स च स्वर्गलोकापवर्गौ
अस्वाध्यायो भवति स पुनर्योऽर्थकामश्रुतीनां ।
तस्यावद्यं फलमिति सदा कुर्युराद्यं यतीशाः ॥ ५० ॥

अर्थ–स्वाध्याय और अस्वाध्यायके भेदसे स्वाध्याय भी दो प्रकारका बतलाया

है। उनमें धर्म वा मोक्षके स्वरूपको प्रतिपादन करनेवाले आगमोंका जो प्रौढ़रूपसे अभ्यास करना है उसे तो स्वाध्याय कहते हैं एवं उससे स्वर्ग और मोक्ष सुखोंकी प्राप्ति होती है। और अर्थशास्त्र वा काम शास्त्रोंका अभ्यास करना अस्वाध्याय है तथा अस्वाध्यायका फल कार्यकारी न होकर निंदित होता है ऐसा जानकर मुनि गण स्वाध्यायका ही आचरण करते हैं। भावार्थ—धर्म वा मोक्षके स्वरूपके बतलानेवाले आगमोंका अभ्यास करना और अर्थशास्त्र वा कामशास्त्र जो कि आत्माको निज स्वरूपके ध्यानसे विचलित करनेवाले हैं उनका स्वाध्याय न करना तो स्वाध्याय है और धर्म वा मोक्षके स्वरूपके प्रतिपादन करनेवाले आगमोंका स्वाध्याय न कर अर्थशास्त्र वा कामशास्त्रका स्वाध्याय करना अस्वाध्याय है तथा इनमें स्वाध्याय कार्यकारी है क्योंकि उससे स्वर्ग मोक्ष सुखकी प्राप्ति होती है और अस्वाध्यायसे कुछ भी फल नहिं होता इसलिये आत्मकल्याणी मुनिगण स्वाध्यायका ही अवलंबन करते हैं ॥ ५० ॥

मनोबोधाधानं विनयाविनियुक्तं निजवपु—

वंचःपाठायत्तं करणगणमाधाय नियतं
दधानः स्वाध्यायं कृतपरिणतिर्जैनवचने
करोत्यात्मा कर्मक्षयमिति समाध्यंतरमिदं ॥ ५१ ॥

अर्थ--भगवान जिनेंद्रके वचनोंपर भलेप्रकार श्रद्धान करनेवाला जो मनुष्य अपने मनको ज्ञानकी ओर लगाकर शरीरको विनयी, वचनको जैन शास्त्रोंका पाठ करनेवाला और इंद्रियोंको नियमित वनाकर-वशकर स्वाध्याय करता है वह मनुष्य समस्त कर्मोंका नाश करदेता है यह भी एकप्रकारकी दूसरी समाधि है।

भावार्थ--जबतक मन वचन काय और इंद्रियां वश न होंगे तब तक कभी स्वाध्याय नहिं हो सकता और विना स्वाध्यायके कर्मोंका नाश और स्वर्ग मोक्षका सुख मिलना असंभव है इसलिये जो मनुष्य स्वाध्यायप्रेमी हैं स्वाध्यायको कार्यकारी समझते हैं उन्हें चाहिये कि वे पहिले मनको तो ज्ञानकी ओर झुकावें शरीरको विनयी, वचनोंको स्वाध्यायमें लीन और इंद्रियोंको वश करैं पीछे स्वाध्याय

स्वाध्यायका अवलंबन नहिं किया जाता तबतक कभी इन कारणोंकी प्राप्ति नहिं होती इसलिये मोक्षाभिलाषियोंको चाहिये कि वे अवश्य स्वाध्याय करैं ॥ ५२ ॥

जैनागमादितरमध्ययनं विहाय
श्रद्धापरः पठति यः शुचिभूमिदेशे
शास्त्रे गुरौ च विनयेन समाहितः सन्
तस्य श्रुतं गमयाति श्रुतदेवतेव ॥ ५३ ॥

अर्थ—जैनशास्त्रोंसे भिन्न अर्थ काम आदि शास्त्रोंका अभ्यास न कर जो मनुष्य पवित्र स्थानपर बैठकर बड़ी श्रद्धासे जैनशास्त्रोंका अभ्यास करता है और शास्त्र एवं गुरुओंमें भी विनयभाव रखता है उसै साक्षात् सरस्वती देवी ही शास्त्र ज्ञान प्रदान करती है—अर्थात् उसै शास्त्रोंकी श्रद्धा और गुरुभक्तिसे शास्त्र ज्ञान होता है ॥ ५३ ॥

पठति मनुते सर्वज्ञोक्तागमं वहु मन्यते

मधुरवचनैर्व्याचष्टे यः सभाप्रतिपादकैः
कतिपयभवैस्तस्योत्पन्ने समुज्वलकेवले
विलसति पटुर्दिव्या भाषा जगत्त्रयबोधिनी ॥ ५४ ॥

अर्थ—जो मुनि भगवान सर्वज्ञद्वारा प्रतिपादित आगमको पढ़ता है मनन करता है बहुत मानता है–आदरकी दृष्टिसे देखता है और सभाके योग्य प्रिय वचनोंसे उनका व्याख्यान करता है उसे थोड़े ही दिनोंके बाद केवलज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है और उससमय उसके तीनों लोकोंको प्रबोधनेवाली दिव्यभाषा दिव्यध्वनि छटकने लगती है। भावार्थ–शास्त्रोंके अभ्यास मनन श्रद्धान और श्रद्धापूर्वक व्याख्यान करनेसे आत्मज्ञान होता है आत्मज्ञानसे कर्मोंका नाश और फिर थोड़े ही भवोंके बाद केवलज्ञान प्रकट होजाता है तथा उससमय वह योगी अपनी दिव्यध्वनिसे जीवोंको धर्मका उपदेश देता है और उस उपदेशसे समस्त जीवोंको स्व और परका ज्ञान होता है ॥ ५४ ॥

व्रतनियमतपस्तेनागूर्णं जिताश्च परीषहा-
विहितसकलो मुक्तारत्नावलीप्रमुखो विधिः
मदनदमनीमर्हन्मुद्रां वहन्मुनिरादरा-
न्नियमितमना यः स्वाध्यायं करोति मुहुर्मुहुः ॥ ५५

अर्थ—जो मुनि कामदेवको वश करनेवाली मुनिमुद्राको धारणकर और मनको निश्चलकर वारवार स्वाध्याय करता है समझलेना चाहिये उसने व्रत नियम और तपोंका पूर्ण आचरण करलिया। परीषह भी जीत लीं और मुक्तावली रत्नावली आदि विधियोंका भी भलेप्रकार आचरण करलिया। भावार्थ—मुनिगण आत्मस्वरूपकी प्राप्तिकेलिये व्रत, नियम, तप, परीषहोंका विजय और मुक्तावली रत्नावली सिंहनिष्क्रीडित आदि उपवासोंका आचरण करते हैं परंतु उनके केवल

१ मुक्तावली उपवासमें पचीस उपवास और नौ पारणा होती हैं तथा यह चौतीस दिनसे समाप्त होता है। रत्नावली उपवासमें तीस उपवास और दश पारणा होतीं हैं यह चालीस दिनमें समाप्त होता है उपवासोंका विशेष वर्णन हरिवंशपुराणसे समझलेना चाहिये

स्वाध्यायसे ही ये बातें सिद्ध होजाती हैं अर्थात् स्वाध्यायके करनेसे परिणामोंमें निर्मलता बनी रहती हैं इसलिये स्वाध्याय ही परम व्रत है स्वाध्याय ही परम नियम और तप है स्वाध्याय ही परीपहोंका जय है और स्वाध्याय ही मुक्तावली रत्नावली आदि उपवास हैं ऐसा बतलाया है ॥ ५५ ॥

वहतु नियमादाचेलक्यं चिरं चरतु वृतं
क्षपयतु वपुः कायक्लेशैरलं यमधरणैः
रचयति नचेन्नित्यं जैनश्रुताध्ययनं तदा
विफलमखिलं स्वाध्यायो यतो न यतिर्यतिः ॥ ५६ ॥

अर्थ–यदि प्रतिदिन जैन शास्त्रोंका अध्ययन न किया जायगा तो चाहें नग्नमुद्रा क्यों न धारली जाय, सदा व्रत भी क्यों न आचरण किये जांय, और जीवनपर्यंत कायक्लेशोंको करनेवाले संयम धारणकर शरीर भी क्यों न सुखा दिया जाय सब निष्फल जाते हैं क्योंकि स्वाध्याय ही यति न होने पर भी यति

अर्थात् परम यति है। भावार्थ—नग्न मुद्राके धारण करनेसे व्रतोंके आचरण करनेसे और काय क्लेशोंसे शरीर कृश करनेसे शांतिमय सुखकी प्राप्ति होती है परंतु विना स्वध्यायके नग्नमुद्रा आदिका धारण करना व्यर्थ है इसलिये स्वाध्याय ही परम हितकारी है ॥ ५६ ॥

इतश्च स्वाध्यायादहरहराविश्रांतविहितात्
परिश्रांतोऽत्यंतं यदि भवति विश्राम्यतु तदा
वहिर्जल्पं मुक्त्वा शमसलिलनिस्पंदशिशिरं
मुनिर्ध्यानं धारागृहमिव सुखाय प्रविशतु ॥ ५७ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! प्रतिदिन अविश्रांतरूपसे आचरण किये हुये स्वाध्यायसे यदि किसी प्रकारकी तुझै थकावट मालूम हो तो तू वाहय जल्पको छोड़कर अविकल सुखके अनुभव करनेकेलिये शांतिरूपी शीतल जलके नीझरनोंसे शीतल धारागृह (फुवारेके घर) के समान ध्यानमें प्रवेशकर। भावार्थ—धूप आदिसे थका हुआ म-

नुष्य जिसप्रकार शीतल जलके नीझरनोंसे व्याप्त धरागृहमें प्रवेश करता है और शांतिसुखका अनुभव करता है उसीप्रकार हे आत्मन् ! यदि तू प्रतिदिन लगातार स्वाध्यायके करनेसे थक गया है-सामर्थ्यके न होनेसे स्वाध्याय नहिं कर सकता तो तुझे ध्यान करना चाहिये क्योंकि ध्यान शांतिमयसुख प्रदान करनेवाला है ॥५७॥

कषायमलकश्मले विरसकायकुंडोदरे
विधेर्बलवतो वशात्पतितमात्मचिंतामणिं
समाध्यमलपावनांभसि विशोध्य गृह्णाति यः
स याति पदमुत्तरोत्तरमनाद्यनंतं श्रियः ॥ ५८ ॥

अर्थ—विधिकी बलवत्तासे यह आत्मारूपी चिंतामणि रत्न, कषायरूपी मलसे मलिन नीरस शरीररूपी कुंडमें गिरगया है परंतु जो मनुष्य उस कुंडसे निकालकर और समाधिरूपी निर्मल पवित्र जलसे शुद्धकर इसै ग्रहण करता है वह स्वर्ग आदिके सुख भोगकर मोक्षसुखको भोगता है । भावार्थ—जिसप्रकार मलिन

जलसे भरे कुंडमें गिरे हुये चिंतामणि रत्नको पाकर उसै शुद्ध जलसे शुद्धकर मनुष्य परम संतोष मानता है उसीप्रकार कषायोंसे मलिन शरीरमें अनादि कालसे पड़ेहुये इस आत्माको भी जो मनुष्य समाधिबलसे शुद्धकर ग्रहण करता है उसै स्वर्ग आदिके सुखके साथ निराकुलतामय सुखकी प्राप्ति होती है ॥५८॥

तदार्तं रौद्रं च स्वकपरिणतेर्धर्म्यमपरं
परं शुक्लं शुक्लोल्लसदविकलद्योतिरुदयं
चतुर्धैवं किंतु प्रथममिह हेयं समलमि-
त्युपादेयं प्राज्ञैरमलमितरध्यानयुगलं ॥ ५९ ॥

अर्थ—आर्त रौद्र धर्म्य और शुल्कके भेदसे ध्यान चार प्रकार है उनमें आर्त रौद्र तो छोड़ने योग्य हैं क्योंकि ये मलिन हैं—आत्माको मलिन बनानेवाले हैं और धर्म्यध्यान शुल्कध्यान ग्रहण करने योग्य है क्योंकि ये निर्मल हैं इनके द्वारा आत्मा शुद्ध होता है तथा धर्म्यध्यान आत्माकी परिणति स्वरूप है इसलिये

अपर है और शुल्कध्यान अविकल अखंड तेजका धारक है इसलिये पर-उत्कृष्ट ॥५९॥

हेतू तिर्यग्गतिनरकयोरार्तरौद्राभिधाने
ध्याने दूरादमलमतिभिर्योगिभिर्वर्जनीये
धर्मध्यानात्त्रिदिवपदवी मुक्तिसाम्राज्यलक्ष्मीः
शुक्लध्यानात्तदुभयमनुष्ठेयमुच्चैःप्रतिष्ठं ॥ ६० ॥

अर्थ—आर्त और रौद्र ध्यान तिर्यंच और नरकगतिके कारण हैं अर्थात् आर्त और रौद्र ध्यानके धारक मनुष्योंको तिर्यंच और नारकी होना पड़ता है इसलिये जो योगी विद्वान हैं—निर्मल बुद्धिके धारक हैं उन्हें इन दोनों ध्यानोंका सर्वथा त्याग करदेना चाहिये तथा धर्म्यध्यानसे स्वर्ग सुख और शुल्कध्यानसे मोक्ष सुखकी प्राप्ति होती है इसलिये इन दोनों ध्यानोंको सर्वोत्तम मान इनका भलेप्रकार आराधन करना चाहिये ॥ ६० ॥

आनिष्टयोगप्रियविप्रयोगप्रभृत्यनेकार्तिसमुद्भवत्वात्

भवोद्भवार्तैरथ हेतुभावाद्यथार्थमेवार्तमिति प्रसिद्धं ॥६१॥

अर्थ—आर्तध्यान अनिष्टका वियोग आदि अनेक दुःखोंसे उत्पन्न होता है। और जितने संसारके दुःख हैं उनकी उत्पत्ति भी इसीसे होती है इसलिये वास्तवमें इसका नाम आर्त-पीड़ासे होनेवाला है।

भावार्थ—आर्तिका अर्थ पीड़ा है और जो ध्यान पीड़ासे हो वह आर्तध्यान है। यह आर्तध्यान दुष्ट स्त्री दुष्ट पुत्र सर्प सिंह आदि अनिष्ट पदार्थोंके संयोगसे और उत्तम स्त्री उत्तम पुत्र द्रव्य आदि पदार्थोंके वियोगसे होता है एवं इससे संसारके समस्त दुःख भोगने पड़ते हैं ॥ ६१ ॥

पुंसां यदुत्पत्तिनिमित्तभूता रोषादयो रौद्रतमाः कषायाः
रौद्रस्य दुःखस्य च रौरवादेर्यत्कारणं तत्किल रौद्रमाहुः ॥६२॥

अर्थ—जो ध्यान क्रोध मान आदि अतिशय रुद्र कषायोंका कारण हो और जिससे नरक आदिका दुःख भोगना पड़े उसका नाम-रौद्रध्यान है—अर्थात् रौद्र-

क्योंकि अहंकार तो तेरेलिये कैदखाना है। उसका परकोट ममता है। अतिशय निविड़ और लोहकी बनीहुई बेडियां महामोह हैं। और कैदखानेके द्वारपर तेरी कड़ी रूपसे देखरेख करनेवाले क्रोध मान माया और लोभ चार कषाय चार सिपाही हैं तूही बता तुझै मोक्षकी प्राप्ति हो तो कैसे हो?

भावार्थ—हे आत्मन्! सदा तेरे परिणाम अहंकार ममता मोह और क्रोध मान माया और लोभमय बने रहते हैं और इन परिणामोंके आधीन हो अनेक प्रकारके क्लेश भोगता हुआ तू इस संसारमें भ्रमण करता रहता है कभी तुझै सन्मार्गकी ओर ध्यान लगानेका अवसर ही नहिं मिलता। फिर बता तुझै मोक्ष मिलै सो कहांसे मिले? ॥ ६४ ॥

एतैःकेऽत्र न के हतास्तदपि हि त्वं विप्रलुब्धोऽसि किं
माधुर्येण च मार्दवेण च घनस्नेहेन रूपेण च
दुर्वारेंद्रियतर्पणार्पितमनास्तन्मात्मनाशं कृथा

मैतान् भुंक्ष्व सखे विमुंच विषयानंतर्विषान्मोदकान् ॥ ६५

अर्थ---हे मित्र आत्मन्! इन विषयोंसे संसारमें बहुतसे नष्ट हुये–ठगे गये हैं तब भी तू इनकी मधुरिमा सरलता स्नेह और और सुन्दर रूपसे ठगा जाता है और रात दिन इंद्रियोंके तृप्त करनेमें लगा रहता है यह बड़ा आश्चर्य है। अरे! तू अपनी आत्माको नष्ट न होने दे और इन विषयोंका भोग न कर सर्वथा छोड़दे क्योंकि ये विषय भीतर छिपेहुये विषसे युक्त मोदक हैं।

भावार्थ---जिसप्रकार विषयुक्त लाडू पहिले खानेमें मधुर पश्चात् थोड़ी देर बाद प्राण ही लेकर छोड़ता है उसीप्रकार ये विषय पहिले तो स्वादिष्ट लगते हैं परंतु पीछे अचित्य दुःख देते हैं इसलिये हे आत्मन्! तू इन्हें मधुर कोमल मान वा स्नेह करनेवाले और सुंदर जान इनकी ओर लालायित मत हो देख! इनसे बहुतसे मनुष्य ठगे गये हैं और तू भी ठगा जायगा तथा विषयोंके सेवनसे तेरी आत्मा भी नष्ट भ्रष्ट होगी इसलिये तू इनका सर्वथा सेवन करना छोड़ दे ॥ ६५॥

एणीदृशोत्र विषमा विषवल्लरीस्त्वं

जानन्नपि त्यजासि किं न हितोद्यतस्ताः
व्यामोहमेव जनयंत्युपभुज्यमानाः
प्राणान् हरंति विषये मदनातुरस्य ॥ ६६ ॥

अर्थ—आत्मन्! तू तो अपना हित करना चाहता है इसलिये यह जानकर भी कि ये स्त्रियां महाविषम विषलताके समान हैं क्यों नहि इन्हें छोड़ देता। देख! विषयकालमें जिससमय इनके साथ संभोग किया जाता है उससमय ये कामपीड़ित मनुष्यको मूढ़ बनादेतीं है और प्राणरहित करदेती हैं।

भावार्थ—जिसप्रकार विषलता जीवको अचेतन और प्राण रहित करदेती है उसीप्रकार स्त्रियां भी जीवको मूढ़ और प्राणरहित करनेवाली हैं इसलिये स्त्रियोंको विषलताके समान मानकर उनका सर्वथा त्याग करदेना चाहिये ॥ ६६ ॥

मेदो-मज्जवसास्थिरक्तपिशितस्नायुस्त्वगंत्रात्मिकां
जानंतोऽपि नवीनयौवनलसल्लावण्यरूपामिमां

मन्वाना रमयंति तद्विरहिता सीदंति मानोद्धताः
आनम्यानुनयंति योषितमहो कोऽपि ग्रहः कामिनां ॥ ६७ ॥

अर्थ—कामी पुरुष यह जानकर भी कि स्त्री मेदा मज्जा वसा हड्डी रक्त मांस स्नायु चर्म और आंत स्वरूप है उसे नवीन यौवनसे देदीप्यमान लावण्य-स्वरूप मानते हैं उसके साथ मन माना विषयभोग करते हैं और रूठ जानेपर मानसे उद्धत होनेपर भी अतिशय नम्र हो उसका अनुनय—चापलूसी भी करते हैं तथा उसके विरहमें कातर हो निकलते हैं इसलिये जानपड़ता है कामी पुरुषोंके-लिये स्त्री एक विचित्र ग्रह है। भावार्थ—जिसप्रकार ग्रह या पिशाचके चक्रमें पड़कर मनुष्य अंडवंड काम करने लग जाता है और उसे करने न करनेका कुछभी होश नहिं रहता उसीप्रकार स्त्रीके चक्रमें पड़कर भी मनुष्य जान बूझकर पागल हो जाता है। वह यह जानकर भी कि स्त्री मेदा मज्जा रक्त मांस आदि अपवित्र धातुओंसे बनी हुई है उसे लावण्य स्वरूप मानता है और उसके साथ रमण क्रीड़ा करता है उसके विरहमें कातर हो पागल हो जाता है और क्रुद्ध हो जानेपर बड़ी न-

अतासे चालूपसी करता है ॥ ६७ ॥

कांतिव्यंजनमंजनं नयनयोर्बिंबाधरे रंगकृ-
त्तांबूलं मृगनाभिपत्रलतिकागंडस्थलीमंडनं
गात्रे कुंकुमलंभिते लवणिमेत्याहार्यमेणीदृशां
सौंदर्यं न तथेति पश्यति जनो रागेण पश्यन्नपि ॥ ६८ ॥

अर्थ—स्त्री, कांति तो अपने शरीरमें उपटन आदिसे उत्पन्न करती है। नेत्रोंको काजल लगाकर और ओठोंको पान चवाकर सुहावना बनाती है। कपोलोंपर कस्तूरीसे चित्र रचना करती है और शरीरको केसर लगाकर सुंदर लावण्यमय बनाती है इसप्रकार स्त्रीका जितनाभर सौंदर्य है सब कृत्रिम है और यह मनुष्य भी इसबातको भलेप्रकार जानता है परंतु यह ऐसे गाढ़ रूपसे रागके जालमें फसा हुआ है कि उस सौंदर्यको कृत्रिम न मानकर स्वाभाविक मानता है। भावार्थ—यदि स्त्रियोंमें स्वाभाविक सौंदर्य होता तो उनके जालमें फसना और उनपर अनु-

राग करना उचित होता, सो तो है नहीं, वे उपटन काजल पान आदि पदार्थोंसे अपना सौंदर्य बनाती हैं क्योंकि यदि उनमें स्वाभाविक सौंदर्य होता तो काजल पान आदि पदार्थोंका अवलंबन वे क्यों करतीं ? परंतु यह जीव इतना रागांध है कि सब कुछ जानकर भी पागल होजाता है और स्त्रियोंसे अपनी लालसा नहिं हटाता ॥ ६९ ॥

रूपं संध्याभ्ररूपं लवणिमविभवोऽम्भोधिकल्लोललोलः
शैलोत्संगापगेव स्वयमसकृदधःपातिनी यौवनश्रीः
सौभाग्यश्रीः समीराहतकुसुमरजोराजिवद्भंगुरेति
व्यालोलालंबनत्वादरतिरिव रतिर्मुच्यतां चंचलैषा ॥६९॥

अर्थ—स्त्रीका रूप तो संध्याकालके बद्दलोंके समान चंचल है । लावण्य, समुद्रकी तरंगोंके समान देखते २ नाश होनेवाला है । यौवनकी शोभा, पर्वतकी नदीके समान प्रतिसमय नीचे गिरनेवाली है । और सौभाग्य पवनसे प्रेरित पुष्पकी

रजके समान क्षणभंगुर है इसप्रकार उसकी रूप आदि समस्त बातोंको चंचल जानकर द्वेषके समान उसमें राग भी न करना चाहिये—उससे सर्वथा प्रेम हटा देना चाहिये। भावार्थ—स्त्रियोंके मनोहर रूप आदि देखकर उनमें अरति—द्वेष नहिं होता राग परिणाम हो जाते हैं परंतु यह ठीक नहीं क्योंकि जिसप्रकार सांझके समय बद्दल रंग विरंगे दीखते हैं और देखते देखते नष्ट हो जाते हैं वैसा तो इसका रूप है। समुद्रकी तरंगे टकराकर जल्दी नष्ट हो जाती हैं वैसा इसका लावण्य है। पर्वतकी नदी जिसप्रकार प्रतिसमय नीचे गिरती है वैसा इसका यौवन भी दिनोंदिन ढलता रहता है। और जिसप्रकार पवनसे प्रेरित पुष्पकी रेणु देखते २ लापता हो जाती हैं उसीप्रकार इसका सौभाग्य भी क्षणभरमें विनष्ट हो जाता है इसलिये इसके रूप आदिको सर्वथा क्षणभंगुर मान कदापि इसमें प्रेम न करना चाहिये ॥ ६९ ॥

आयुर्वायुहतार्कतूलतरलं शंपेव संपच्चला

छायाक्रीड़नयंत्रपुत्रकानिभः पुत्रादिमेलापकः

राग करना उचित होता, सो तो है नहीं, वे उपटन काजल पान आदि पदार्थोंसे अपना सौंदर्य बनाती हैं क्योंकि यदि उनमें स्वाभाविक सौंदर्य होता तो काजल पान आदि पदार्थोंका अवलंबन वे क्यों करतीं ? परंतु यह जीव इतना रागांध है कि सब कुछ जानकर भी पागल होजाता है और स्त्रियोंसे अपनी लालसा नहिं हटाता ॥ ६९ ॥

रूपं संध्याभ्ररूपं लवणिमविभवोऽंभोधिकल्लोललोलः
शैलोत्संगापगेव स्वयमसकृदधःपातिनी यौवनश्रीः
सौभाग्यश्रीः समीराहतकुसुमरजोराजिवद्भंगुरेति
व्यालोलालंबनत्वादरतिरिव रतिर्मुच्यतां चंचलैषा ॥६९॥

अर्थ—स्त्रीका रूप तो संध्याकालके बद्दलोंके समान चंचल है । लावण्य, समुद्रकी तरंगोंके समान देखते २ नाश होनेवाला है । यौवनकी शोभा, पर्वतकी नदीके समान प्रतिसमय नीचे गिरनेवाली है । और सौभाग्य पवनसे प्रेरित पुष्पकी

रजके समान क्षणभंगुर है इसप्रकार उसकी रूप आदि समस्त बातोंको चंचल जानकर द्वेषके समान उसमें राग भी न करना चाहिये—उससे सर्वथा प्रेम हटा देना चाहिये। भावार्थ—स्त्रियोंके मनोहर रूप आदि देखकर उनमें अरति—द्वेष नहिं होता राग परिणाम हो जाते हैं परंतु यह ठीक नहीं क्योंकि जिसप्रकार सांझके समय वद्दल रंग विरंगे दीखते हैं और देखते देखते नष्ट हो जाते हैं वैसा तो इसका रूप है। समुद्रकी तरंगे टकराकर जल्दी नष्ट हो जाती हैं वैसा इसका लावण्य है। पर्वतकी नदी जिसप्रकार प्रतिसमय नीचे गिरती है वैसा इसका यौवन भी दिनोंदिन ढलता रहता है। और जिसप्रकार पवनसे प्रेरित पुष्पकी रेणु देखते २ लापता हो जाती हैं उसीप्रकार इसका सौभाग्य भी क्षणभरमें विनष्ट हो जाता है इसलिये इसके रूप आदिको सर्वथा क्षणभंगुर मान कदापि इसमें प्रेम न करना चाहिये ॥ ६९ ॥

आयुर्वायुहतार्कतूलतरलं शंपेव संपच्चला
छायाक्रीड़नयंत्रपुत्रकनिभः पुत्रादिमेलापकः

रजके समान क्षणभंगुर है इसप्रकार उसकी रूप आदि समस्त बातोंको चंचल जानकर द्वेषके समान उसमें राग भी न करना चाहिये—उससे सर्वथा प्रेम हटा देना चाहिये । भावार्थ—स्त्रियोंके मनोहर रूप आदि देखकर उनमें अरति—द्वेष नहिं होता राग परिणाम हो जाते हैं परंतु यह ठीक नहीं क्योंकि जिसप्रकार सांझके समय बद्दल रंग विरंगे दीखते हैं और देखते देखते नष्ट हो जाते हैं वैसा तो इसका रूप है । समुद्रकी तरंगे टकराकर जल्दी नष्ट हो जाती हैं वैसा इसका लावण्य है । पर्वतकी नदी जिसप्रकार प्रतिसमय नीचे गिरती है वैसा इसका यौवन भी दिनोंदिन ढलता रहता है । और जिसप्रकार पवनसे प्रेरित पुष्पकी रेणु देखते २ लापता हो जाती हैं उसीप्रकार इसका सौभाग्य भी क्षणभरमें विनष्ट हो जाता है इसलिये इसके रूप आदिको सर्वथा क्षणभंगुर मान कदापि इसमें प्रेम न करना चाहिये ॥ ६९ ॥

आर्युर्वायुहतार्कतूलतरलं शंपेव संपच्चला
छायांक्रीड़नयंत्रपुत्रकनिभः पुत्रादिमेलापकः

संसारस्थितिरिंद्रजालिककलाकल्पेति संकल्प्यतां
चित्ते वास्तवतामवास्तवतमेश्वेतेषु मा त्वं कृथाः ॥७०॥

अर्थ– हे आत्मन् ! मनुष्योंकी आयु तो पवनसे प्रेरित आककी रुईसे समान चंचल समझ लेनी चाहिये । संपत्ति विजलीके समान क्षणभंगुर, पुत्र आदिका मिलाप चित्रके खिलौंनेके समान और संसारकी स्थिति इंद्रजालकी रचनाके समान जाननी चाहिये तथा आयु आदिके अंदर जो तेरा यह श्रद्धान बैठा है कि ये वास्तविक–सत्य हैं वह श्रद्धान भी दूर करदेना चाहिये । भावार्थ–मूढ़मनुष्य आयु और संपत्ति आदि पदार्थोंको सच्चे और नित्य मानते हैं परंतु यह उनकी बड़ी भारी भूल है क्योंकि आयु देखते २ आककी रुईके समान क्षणभंगुरमें नष्ट हो जाती है । संपत्ति विजलींके समान क्षणभंगुर है । पुत्र आदिका संबंध, तस्वीरकी पुतली आदि खिलौनेके समान अकार्यकारी हैं और इंद्रजालमें जैसे नवीन २ पदार्थ दीख पड़ते हैं और नष्ट होजाते हैं उसीप्रकार यह संसारकी स्थिति है अर्थात् कभी इसमें देवपर्याय तो कभी मनुष्य पर्याय धारण की जाती है और वह नष्ट

होजाती है इसलिये हे आत्मन् ! तुझै आयु आदि पदार्थ नित्य वा वास्तविक कभी न समझने चाहिये ॥ ७० ॥

कनकमृगतृषार्तो विद्विषन्नीतसीता–
विरहकृतमयासील्लाघवं राघवोऽपि
कनकमृगतृषार्तिं मुंच नो चेत्तवापि
ध्रुवमविकलबुध्या सीतया स्याद्वियोगः ॥ ७१ ॥

अर्थ–हे आत्मन् ! जिससमय रावणने सुवर्णमयी मृगके रूपधारी मारीचके द्वारा सीताका हरण कराया था उससमय सुवर्णमय मृगकी तृष्णासे प्रेरित रामचंद्रको जैसा सीताके वियोगसे अधिक संताप हुआ था उसीप्रकार यदि तू भी सुवर्णकी तृष्णा करैगा तो तेरेभी शांतस्वरूप निराकुलतामय बुद्धिका वियोग होजायगा और तुझै भी उसके वियोगसे संताप सहना पड़ेगा । इसलिये तू सुवर्णकी तृष्णाको छोड़दे भावार्थ–यह कथा लोक प्रसिद्ध है कि जिससमय रावणने सीताका हरण क-

राया था उससमय रावणकी आज्ञानुसार मारीच सुवर्ण मृगबन जहां रामचंद्र और सीता बैठे थे वहां आया था ज्योंही सीताने उसै देखा वह उसपर मुग्ध होगई और उसै लानेकेलिये उसने रामचंद्रसे आग्रह किया। यद्यपि रामचंद्र इसबातको जानते थे कि सुवर्णका मृग होना असंभव हैं तथापि सीताके आग्रहसे वे उसै पकड़ने चलदिये। वह मृग मायामयी था इसलिये बड़े झपाटेसे दूरतक निकलगया। राम भी बराबर उसका पीछा करते गये, और इधर सीताको हरणकर रावण चलता बना जब रामचंद्रने पीछे आकर देखा तो सीताको न पाया और उसके वियोगमें उन्हें अति संताप हुआ। हे आत्मन्! रामचंद्रके समान यदि तू भी सुवर्णका लोलुपी बनैगा–उसै अपनाना चाहैगा तो याद रख। तुझै भी शांति प्रदान करनेवाले निराकुलतामय ज्ञानसे जुदा होना पड़ेगा और अचिंत्य कष्ट भोगना होगा इसलिये तुझै सुवर्णकी लालसा सर्वथा छोड़देनी चाहिये ॥ ७१ ॥

या पंचेंद्रियभर्तृदर्शितरतिर्यापार्थसंतोषिणी
या विस्फूर्जति नित्यनूतनसती कामानलज्वालिता

या गोत्रक्षयकारिकारितकलिः कृष्णेव तृष्णा भृशं
श्रेयःसंगमकारिणी कथमहो तस्याःप्रवृत्तिर्भवेत् ॥ ७२ ॥

अर्थ—संसारमें जो तृष्णा मालूम पड़ती है वह साक्षात् द्रोपदीके समान है क्योंकि द्रौपदी जैसी–(पंचेंद्रियभर्तृदर्शितरतिः) पांचो इंद्रियोंके समान युधिष्ठिर भीम अर्जुन नकुल सहदेव पांचों पतियोंमें प्रेम दिखानेवाली थी उसीप्रकार यह तृष्णा भी पांचो इंद्रियोंको तृप्त करनेवाली है। दौपदी जैसी (पार्थसंतोषिणी) अर्जुनको संतुष्ट करनेवाली थी उसीप्रकार यह भी अपार्थ-निंदित पदार्थोंमें संतोष करानेवाली है। द्रौपदी जिसप्रकार (कामानलज्वालिता नित्यनूतनसती) परम कामिनी होनेपर भी सदा नूतन सती बनी रहती थी उसीप्रकार यह भी कामानलको दीप्त करनेवाली और सदा नवीन नवीन हुआ करती है। द्रौपदी जैसी (गोत्रक्षयकारिकारितकलिः) वंशविध्वंस करनेवाली कलह मचानेवाली थी उसीप्रकार तृष्णा भी वंशको नष्ट करनेवाली कलह उत्पन्न करती रहती है-तृष्णा करनेवाले मनुष्यको सदा दूसरोंसे झगड़ा और कलह करनी पड़ती है इसलिये

ऐसी तृष्णा करनेसे मोक्षका समागम मिलै सो कैसे मिलै ! भावार्थ—अन्य लोग ऐसा मानते हैं कि द्रौपदी पांचो पांडवोंकी स्त्री थी। स्नेह उसका पांचोंपर था परंतु अर्जुनको वह विशेष चाहती थी। अधिक कामिनी होनेपर भी सती वजती थी और उसीने गोत्रको क्षय करनेवाली महाभारतकी कलह माचाई थी ठीक ऐसी ही यह तृष्णा है क्योंकि इससे पांचो इंद्रियोंका पोषण होता है। यह दुष्कर्मोंकी ओर झुकानेवाली है। प्रतिदिन नूतन २ होनेवाली, और जीवोंको कामानलसे दीप्त करनेवाली है और इसी तृष्णाके महात्म्यसे गोत्रमें दिनरात कलह मची रहती है इसलिये इस तृष्णासे कभी मोक्ष सुख नहिं मिल सकता ॥ ७२ ॥

त्वं रत्नत्रयधाम धाम भवतः कायोयमत्र स्थितः
साधीयः किल साधयिष्यसि पदं सम्यक् समाधानतः
तत्संशोषितसप्तधातुनिचयाद्भ्रूभंगभीमेक्षणा—
न्मैनं नाशय रक्ष रक्ष विषमक्रोधाख्यरक्षःपतेः॥ ७३ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! तू तो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र स्वरूप रत्नत्रयका घर है और तेरा घर इस समय यह शरीर है। समाधिबलसे यदि तू इस शरीरसे उत्तमपद मोक्ष प्राप्त करना चाहता है तो तू इस शरीरको क्रोधरूपी राक्षसके फंदमें न फसने दे, बडी सावधानीसे इसकी उससे रक्षाकर क्योंकि वह राक्षस हड्डी मांस चर्म आदि सात धातुओंके पिंडस्वरूप इस शरीरको सुखानेवाला है और जिससमय इसका प्रकोप होता है उससमय भृकुटियोंकी कुटिलतासे नेत्र महा भयंकर हो जाते हैं। भावार्थ—जिसप्रकार राक्षस शरीरको भक्षण कर जाता है और उसकी भृकुटी चढ़ी रहतीं हैं इसलिये नेत्र महाभयंकर मालूम पडते हैं उसीप्रकार यह क्रोध भी धीरे धीरे कृश करता हुआ शरीरको भक्षण कर जाता है और इसके प्रकोपसे भृकुटी चढीं रहतीं हैं इसलिये नेत्र महाभयंकर होजाते हैं। हे आत्मन् ! तू स्वयं रत्नत्रयका घर होनेपर भी इससमय तेरा घर शरीर है और इससे तुझे सबसे बडा कार्य मोक्ष सिद्ध करना है इसलिये इस क्रोधरूपी राक्षससे इस शरीरकी रक्षाकर-व्यर्थ नष्ट न होने दे ॥७३॥

यदुपरि भवदीयः क्रोधवह्निः प्रदीप्त-
स्तामिह दहतु मा वा त्वां दहत्येव तावत्
अरणिमिव हुताशःस्वाश्रयाशस्तथासौ
प्रशमघनजलौघैर्हंत हंतव्य एव ॥ ७४ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! जिस मनुष्यपर तेरी क्रोधाग्नि प्रदीप्त हुई है वह जलै या न जलै तू तो पहिले जल ही जाता है क्योंकि यह क्रोधाग्नि, अपने आश्रयको भी नष्ट करनेवाली वंशसे उत्पन्न अग्निके समान है इसलिये शांति रूपी मेघके जलसे इसका सर्वथा नाश करदेना चाहिये—कदापि क्रोधमय परिणाम न करने चाहिये। भावार्थ—जिसप्रकार दो वांसोंके परस्पर घिसनसे उत्पन्न हुई अग्नि प्रथम तो अपने आधार वासोंको जलाकर खाक करदेती है पश्चात् समस्त वनको भस्म करडालती है अथवा वन भस्म हो या न हो अपने आधारको तो अवश्य खाक करदेती है उसीप्रकार क्रोधरूप अग्नि भी प्रथम तो आत्माको जला देती है-उसै स्वरू-

पसे विचलित करदेती है और पीछे दूसरे जीवोंको नष्ट करती है—उनके परिणामोंको खलबला देती है अथवा क्रोधसे दूसरेका अहित हो या न हो अपना तो अवश्य अहित होजाता है इसलिये जिसप्रकार मेघके जलसे वनाग्नि नष्ट करदी जाती है उसीप्रकार समतासे क्रोधका भी नाश करदेना चाहिये ॥ ७४ ॥

स्पष्टाष्टदर्शितमदं विनयांकुशेन
मानद्विपं नियमय त्वमखंडितेन
आरोहको भवसि येन सुभद्रजातेः
सद्बोधसिंधुरपतेः शुभलक्षणस्य ॥ ७५ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! ज्ञान पूजा आदि आठ मदोंको स्पष्ट रूपसे धारण करनेवाले मानरूपी हाथीको तू अखंडित विनयरूपी अंकुशसे वशकर जिससे तू अनेक शुभलक्षणोंके धारक अतिशय उत्तम सम्यग्ज्ञानरूपी ऐरावतपर सवार हो सकै। भावार्थ—जिसप्रकार मदसे मत्त सामान्य हाथीको अंकुशसे वशकर महावत उत्तम

हाथीपर चढ़नेके योग्य होता है उसीप्रकार हे आत्मन् ! जिससमय तू–मैं ज्ञानी हूं बलवान हूं, इत्यादि मदोंके करानेवाले अभिमानको छोड़ देगा उससमय तुझै अखंड ज्ञान-सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति होगी-मानको विना दूर किये सम्यग्ज्ञान प्राप्त नहिं होसकता ॥ ७५ ॥

अहं सुरूपः सुभगो युवाहं, शूरोहमाढ्योऽहमहं विपश्चित्
अहं स इत्यावहतो विकल्पान्, न कल्प्यते हंस पदोदयस्ते॥७६॥

अर्थ—हे आत्मन् ! जबतक तु–मै रूपवान हूं, सुंदर हूं, युवा हूं, शूर वीर हूं धनवान हूं, और विद्वान हूं, इन विकल्पोंमें फसा रहैगा तब तक तुझै कभी आत्मस्वरूपकी प्राप्ति नहिं हो सकती—रूप आदिका अभिमान आत्मस्वरूपकी प्राप्तिमें बाधक है ॥ ७६ ॥

अंतर्निगूढघृतरौद्रकषायसर्पा–
श्छन्ना बहिःकपटकूटपिधानकेन

मायाहितुंडिककरंडकमंडलीव
मा पश्यतां कुशलिभिः कुशलोदयाय ॥ ७७ ॥

अर्थ—हे आत्मन ! यह माया सपेड़ीकी पिटारी है क्योंकि इसके भीतर तो महाभयंकर कषायरूपी सर्प छिपे हुये हैं और बाहिर वह कपटरूपी पारेसे ढकी हुई है इसलिये जो मनुष्य अपनी आत्माका कल्याण चाहनेवाले हैं उन्हें चाहिये कि वे अपनी कुशलताकेलिये इस मायाकी ओर झांककर भी न देखें। भावार्थ—जिसप्रकार सपेड़ीकी पिटारीमें भीतर सर्प भरे रहते हैं और ऊपर पारा ढका रहता है उसीप्रकार मायाचारी मनुष्यके भीतर तो क्रोध आदि कषाय विद्यमान रहते हैं और ऊपरसे चाल ऐसी करता है कि भीतरी क्रोध आदिका पता नहिं लगने देता–कपटसे वह बिलकुल सीधा साधा भोला बन जाता है और दूसरोंके अहित करनेमें भी नहिं चूकता इसलिये विद्वानोंको मायाका सर्वथा त्याग कर-देना चाहिये ॥ ७७ ॥

शश्वन्नासाग्रपाली-घनघटितदृशो धीरवीरासनस्था-
ये निष्कंपाः समाधेर्विदधाति विधिनारंभमारंभकास्ते ॥८०॥

अर्थ—जो महानुभाव बंदरके कमान चंचल मनके रोकनेकेलिये स्वभावसे वा मुनि आदिके संसर्गसे विरक्त होकर, धीर वीर आसनको माढ़कर, एकांत स्थानमें स्थित होते हैं और नासिकाके अग्रभागमें अपनी दृष्टि लगाकर निश्चल हो विधिपूर्वक समाधिका आरंभ करते हैं वे आरंभक ध्याता कहे जाते हैं। भावार्थ—जबतक मन वशमें नहिं होता तबतक समाधिका आरंभ भी नहिं हो सकता और मन वश उसीसमय होता है जब कि संसारसे सर्वथा ममत्व छोड़कर, दृढ़ आसन माढ़कर नासाग्र दृष्टि हो, एकांत स्थानमें स्थिति की जाती है। इसलिये जो मुनि इसरूपसे मनको वशकर समाधिका प्रारंभ करते हैं वे आरंभक ध्याता कहे जाते हैं ॥८०॥

हंहो मानस ! किं विभो ! भ्रमसि किं ! व्याकृष्टमत्रेंद्रियैः
कस्मिन् ! वैषयिके सुखे तदसुखं किं सौख्यमेकाग्रता

सास्यात्केन ? समाधिना क स ! मयि क्वासि त्वमस्मिन्नहं
पश्यांतर्विश जीवदेव सुचिरं हष्ठ्या प्रसादं कुरु ॥ ८१ ॥

अर्थ—आत्मदेव और मनका आपसमें संवाद (जीवदेव) अरे मन (मन) महाराज ! (आत्मा) क्यों भ्रमण करते हो ? (मन) इंद्रियोंके आधीन हो । (आत्मा) कहां ? (मन) विषय सुखमें । (आत्मा) अरे भाई वहतो दुःख है—सुख नहीं । (मन) सुख क्या है ? (आत्मा) एकाग्रता—निराकुलता । (मन) वह कैसे प्राप्त होती है ? (आत्मा) समाधिसे । (मन) वह कहां है ? (आत्मा) मुझमें । (मन) तुम कहां हो ? (आत्मा) समाधिमें यदि निश्चय न हो तो भीतर बैठकर देखो । (मन) हे देव ? यदि ऐसा है तो मुझपै प्रसन्न हों—मुझे अपनेमें निश्चल होकर रहनेकेलिये स्थान दें । भावार्थ—इस श्लोकमें आत्माने मनको इसप्रकार समझाया है कि हे मन ! तू इंद्रियोंके आधीन हो विषय सुखमें क्यो फसा हुआ है ? यह विषय सुख, सुख नहिं परम दुःख है किंतु सुख निराकुलता है वह समाधिसे प्राप्त होती है समाधि

मुझमें और मैं समाधिमें लीन हूं यदि इसबातको तू मिथ्या माने तो भीतर प्रविष्ट होकर देख और चंचलता छोड़कर वहां निराकुलतामय सुखका अनुभव कर ॥ ८१ ॥

कुर्वाणो मरुदासनेंद्रियमनःक्षुत्तर्षनिद्राजयं
योऽन्तर्जल्पनिरूपणाभिरसकृत्तत्त्वं समभ्यस्यति ।
सत्त्वानामुपरि प्रमोदकरुणामैत्रीर्भृशं मन्यते
ध्यानाधिष्ठितनिष्ठयाभ्युदयते तस्येह तन्निष्ठता॥ ८२ ॥

अर्थ—जो योगी काम, इंद्रिय, मन, क्षुधा, तृष्णा और निद्राको जीतता है। बाहिर शब्दोंको प्रकाशित न कर भीतर ही भीतर तत्त्वोंका अभ्यास करता है, विद्वान मनुष्योंपर प्रमोद, दुःखित जीवोंपर करुणा और समस्त जीवोंमें मित्रभाव रखता है एवं ध्यानमें जिसकी पूरी पूरी भक्ति है वह तन्निष्ठ (ध्यानमें प्रेम रखनेवाला) ध्याता कहलाता है ॥ ८२ ॥

समौ सिद्धौ ध्यानाध्ययनतुरगावस्य सुखदौ

गुणका अनुभवकरनेका है ॥ ८३ ॥

उपरितबाहिरंतर्जल्पकल्लोलमाले
लसदविकलविद्यापद्मिनीपूर्णमध्ये ।
सततममृतमंतर्मानसे यस्य हंसः
पिबति निरुपलेपः सोऽत्र निष्पन्नयोगी ॥८४॥

अर्थ—जिस मनुष्यका हंस—आत्मा बाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकारके जल्परूपी तरंगोंसे रहित—शांत, देदीप्यमान अविकलविद्या-केवलज्ञानरूपी कमलिनीसे संयुक्त मानस सरोवरमें अपने आत्मामें निरंतर अमृत पान-स्वस्वरूपका चिंतवन करता रहता है और निरुपलेप—कर्मके लेपसे रहित है वह मनुष्य निष्पन्नयोगी नामका ध्याता कहा जाता है । भावार्थ—जिसप्रकार निस्तरंग और कमलोंके समूहसे शोभित मानस सरोवरमें हंस सानंद मिष्ट जलका पान करता है उसीप्रकार बाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकारके जल्पोंसे रहित और अखंड केवलज्ञानरूपी विभूतिसे शोभित अपने

आत्मामें जो योगी अपने स्वरूपका चिंतवन करता है और कर्मोंके चक्रसे छूट गया है वह निष्पन्नयोगी कहलाता है ॥ ८४ ॥

प्रचलति किल क्षोणीचक्रं चलंत्यचला अपि
प्रलयपवनप्रेंखालोलाश्चलंति पयोधयः ।
पवनजयिनः स्वावष्टंभप्रकाशितशक्तयः
स्थिरपरिणतेरात्मध्यानाच्चलंति न योगिनः ॥८५॥

अर्थ--चाहे पृथ्वीचक्र भी क्यों न कंपायमान होजाय । अचल भी पर्वत क्यों न चलायमान होजांय । प्रलयकालके पवनके प्रबलवेगसे समुद्र भी क्यों न चल अचल हो उठे । परंतु जिन योगीश्वरोंने अपनी प्राणवायुका विजय और स्वाधीन शक्तिको प्राप्त कर लिया है-महाशक्तिमान हो चुके हैं वे कभी भी निश्चल आत्म-ध्यानसे विचलित नहिं होते । भावार्थ--यद्यपि पृथ्वी पर्वत और समुद्रोंका चल विचल होना दुस्साध्य है तथापि किसी अवसरपर ये चल विचल हो उठते हैं प-

रंतु जो योगिगण अपनी प्राणवायुको वशकर अचिंत्य स्वाधीन शक्तिका लाभ कर चुके हैं—जिनकी आत्मा अनंत बलकी धारक बन गई है वे कभी भी ध्यानसे विचलित नहिं होते-भयंकरसे भयंकर भी उपद्रव उनका बाल भी वांका नहिं करसकते ॥ ८५ ॥

धर्मो वस्तुस्वभावः शमधृतिरथ वा स्वोत्थशुद्धोपयोगः
सद्वृत्तं वा श्रुतं वा दशविधविलसल्लक्षणो वापि धर्मः।
धर्मस्थं धर्मधाम प्रगुणगुणगणं पंचकं वा गुरूणां
नेहक्षाद् ध्येयधर्माद् व्यपगतमिति हि ध्यानमाभाति धर्म्यं।८६।

अर्थ—वस्तुका स्वभाव, शांतिका धारण करना, केवल आत्मासे उत्पन्न केवलज्ञान केवलदर्शन गुणस्वरूप शुद्धोपयोग, सम्यक्चारित्र, शास्त्र वा दशप्रकारके लक्षणोंके धारक उत्तमक्षमा मार्दव आदि दश धर्म कहे जाते हैं अथवा धर्मके धारण करनेवाले, धर्मके स्थान, अनेक गुणोंके भंडार अर्हत सिद्ध आचार्य आदि

पांच गुरु भी धर्म कहे गये हैं इसलिये इनके स्वरूपका चिंतवन करना ही धर्म्यध्यान है और इनसे भिन्न पदार्थोंके चिंतवन करनेको धर्म्यध्यान नहिं कहते । भावार्थ-धर्मके स्वरूपका चिंतवन करना धर्म्यध्यान है और वह धर्म वस्तुका स्वभाव चिंतवन करना अर्थात् आत्माका स्वरूप क्या है ? धर्म अधर्म आकाश किन पदार्थोंको कहते हैं ? कर्म किसका नाम है ? ऐसा विचार करना, शांति धारण करना, केवलज्ञान केवलदर्शनरूप शुद्धोपयोग, सम्यक्चारित्र, शास्त्र, उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य, और ब्रह्मचर्य, अथवा अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, और साधु इसप्रकार अनेक प्रकारका माना गया है इसलिये इन्हींके स्वरूपका चिंतवन करना धर्म्य ध्यान है और मोहके कारण स्त्री पुत्र आदि पदार्थोंका चिंतवन करना धर्म्यध्यान नहिं हो सकता ॥ ८६ ॥

आज्ञामपायं विविधं विपाकं संस्थानमित्थं न तदन्यथेति ।
वै चिंत्यते येन यतोऽथ यत्र चत्वारि तत्त्वानि तदेव धर्म्यं ॥८७॥

अर्थ—जिसके आज्ञाविचय, अपायविचय विपाकविचय और संस्थानविचय ये चार भेद हैं और जहांपर इनके (आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय) यथार्थ स्वरूपका चिंतवन किया जाता है वह ही धर्म्य-ध्यान है ॥८७॥

आज्ञा जैनवचःप्रमाणकरणं कर्मात्मनोः सर्वथा
विश्लेषोऽयमपाय इत्यनुभवस्तेषां विपाकाह्वयः।
संस्थानं भुवनस्थितिश्च विचयस्तद्भाविनी भावना
धर्म्यं ध्यानमुदाहृतं हतमहामोहं चतुर्धा बुधैः॥८८॥

अर्थ—भगवान जिनेंद्रके वचनोंपर विश्वास करना—उन्हें प्रमाणीक मानना आज्ञा है। कर्म और आत्माका सर्वथा विश्लेष जुदाई जानना अपाय है। कर्मोंके फलका अनुभव करना विपाक है। लोककी स्थिति संस्थान है और आज्ञा आदिकी भावना का करना विचय है इसप्रकार मोहको सर्वथा नाश करनेवाले धर्म्यध्यानके ये चार

अर्थ—भगवान जिनेंद्रने एक पदार्थ सत्ता, द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक वा निश्चय, व्यहार दो नय, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र तीन मोक्षके मार्ग, देव मनुष्य नरक तिर्यंच चार गतियां, औदारिक वैक्रियिक आहारक तैजस और कार्माण पांच शरीर, पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजःकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक छै प्रकारके जीव, स्यादस्ति स्यान्नास्ति स्यादस्तिनास्ति, स्यादवक्तव्य स्यादस्तिचावक्तव्य, स्यान्नास्तिचावक्तव्य स्यादस्तिनास्तिचावक्तव्य ये सात भंग, सम्यक्त्व ज्ञान दर्शन वीर्य अव्याबाध सूक्ष्मत्व अगुरुलघुत्व अवगाहना ये आठ सिद्धोंके गुण, जीव अजीव आस्रव बंध संवर निर्जरा मोक्ष पुण्य और पाप ये नौ पदार्थ, उत्तमक्षमा मार्दव आर्जव आदि दश धर्म, दर्शनप्रतिमा, व्रतप्रतिमा, सामायिक, प्रोषध, सचित्तविरत, रात्रि भुक्तित्याग, ब्रह्मचर्य, आरंभत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उत्कृष्ट श्रावक ये ग्यारह श्रावकोंकी प्रतिमा, एवं अनशन अवमोदर्य वृत्तिपरिसंख्यान रसपरित्याग विविक्तशय्यासन कायक्लेश प्रायश्चित्त विनय वैय्यावृत्त्य स्वाध्याय व्युत्सर्ग और ध्यान ये बारह

तप बतलाये हैं। इसप्रकार जो मुनिवर भावनारूपी नेत्रसे भलेप्रकार पदार्थोंको देखकर भगवान केवलीने जो पदार्थोंका स्वरूप बतलाया है विचार करता है वह मुनिवर आज्ञाविचय धर्म्यध्यानका धारक कहा जाता है। भावार्थ—भगवान जिनेंद्रने जो सत्ता तप आदिका स्वरूप और उसके भेद बतलाये हैं उनका उसीप्रकारसे जो मुनिवर चिंतवन करता है वह आज्ञाविचय धर्म्यध्यानी कहा जाता है॥ ८९-९० ॥

यादृशचिह्नं प्रकृतिरपि या यन्निदानं यदोजो
य: प्रारंभो विकृतिरथ या तत्तदालक्ष्य साक्षात्।
कर्मव्याधेरुपशमकरैर्योग्ययोग्यैरुपायैः
प्रोद्धिन्वानो यतिपतिभिषग्यात्यपायाख्यधर्म्यं ॥ ९१॥

अर्थ—जो मुनींद्ररूपी वैद्य कर्मरूपी व्याधिकी इसप्रकार जांचकर कि-इसके लक्षण ऐसे हैं, ऐसी प्रकृति है, यह इसका निदान है, ऐसा प्रकोप है, इसतरह इस-

का प्रारंभ हुआ है और इसका विकार यह है, उसके उपशम करनेवाले योग्य योग्य उपायोंसे उसै दूर करता है उसके अपायविचयनामका धर्म्यध्यान होता है ॥ भावार्थ–जिसप्रकार वैद्य, रोगके लक्षण प्रकृति कारण प्रकोप प्रारंभ और विकारको भलेप्रकार जांचकर योग्य योग्य उपायोंसे उसै दूर करता है उसीप्रकार जो मुनि कर्मोंका चिन्ह, स्वभाव, कारण, शक्ति, प्रारंभ, और विकारको भलेप्रकार जानकर उन्हैं मूलसे नष्ट करता है उस योगीके अपायविचयनामका धर्म्यध्यान होता है ॥ ९१ ॥

अष्टानामपि कर्मणां निजनिजोत्पत्तिक्रमाद्भाविनी
या यावत्युदयावली बलवती यद्यद्विधत्ते फलं ।
तत्तद्रूपनिरूपणा प्रतिफलत्यंतर्यतो योगिनां
ध्यानं ध्यानधुरंधरास्तदनघं वैपाकधर्म्यं विदुः॥ ९२ ॥

अर्थ–जिस धर्म्यध्यानके द्वारा योगियोंके चित्तमें अपने अपने समयमें उदयमें

तनुवात और अंबुवात तीनों प्रकारके पवन वेष्टित किये रहते हैं। यह हाथोंको कमरपर रखकर पैरोंको पसारकर सीधे खड़ेहुये मनुष्यके आकार है और स्थिर है ऐसे लोकके स्वरूपका जो मनमें चिंतवन करता है उसका नाम संस्थानविचय नामका धर्म्यध्यान है॥ ९३ ॥

मलमनलशिखाभिस्तापितं हेम यद्व-
त्यजति भजति वर्णोत्कर्षतः षोडशत्वं।
अधिकतरविशुद्धेर्निर्मलीभूय तद्व-
त्परिणमति हि शुक्लध्यानभावेन धर्म्यं ॥ ९४ ॥

अर्थ—जिसप्रकार बार २ अग्निसे तपाया हुआ सुवर्ण कीट आदि मैलको छोड़कर अपने वर्णकी अधिक चमक दमकसे सोलह वारका तपाहुआ अर्थात् बिलकुल शुद्ध हो जाता है उसीप्रकार धर्म्यध्यान जिससमय अधिक शुद्ध हो जाता है उससमय वही शुक्लध्यान बनजाता है। भावार्थ—जिसप्रकार कीट कालिमा

आदि निश्चित सुवर्णकी, शुद्ध सुवर्ण, पर्याय होती है उसीप्रकार धर्म्यध्यानकी अतिशय विशुद्ध पर्याय शुक्लध्यान होती है इसलिये धर्म्यध्यानसे शुक्लध्यानकी प्राप्ति होती है ॥ ९४ ॥

योऽर्थव्यंजनयोगसंक्रमविधैर्भेदः श्रुतालंबन-
स्तत्पार्थक्यवितर्कयुग्विचरणं शुक्लं वदंत्यादिमं।
किंचार्थप्रमुखेष्वसंक्रममिहैकत्वश्रुतालंबनं
प्राहैकत्ववितर्कणाविचरणाभिख्यं द्वितीयं जिनः॥९५॥
कायक्रिया किमपि सूक्ष्मतरास्ति यस्मिन्
सूक्ष्मक्रियं निकटसंघटमानसिद्धि ।
सूक्ष्मक्रियापि न तु यत्र तुरीयकं त-
च्छिन्नक्रियं भवति निर्वृतिरेव तस्मात् ॥ ९६ ॥

अर्थ—शुक्लध्यानके पृथक्त्ववितर्कवीचार, एकत्ववितर्कविचार, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवृत्ति ये चार भेद हैं इनमें जो ध्यान वितर्क और वीचार दोनोंसे युक्त हो वह पृथक्त्ववितर्क वीचार नामका प्रथम शुक्लध्यान है तथा अर्थ, व्यंजन और योगोंके पलटनेको वीचार और श्रुतज्ञानको वितर्क कहते हैं। जिसमें अर्थ व्यंजन और योगोंका पलटना न हो किंतु वितर्क हो वह एकत्ववितर्कविचार नामका द्वितीय शुक्ल ध्यान है। जिसमें शरीरकी क्रिया विलकुल सूक्ष्म हो जाती है और जिसके पासमें ही मोक्ष रहजाती है वह सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती नामका तीसरा शुक्लध्यान है और जहां उस सूक्ष्मक्रियाका भी नाश होजाता है और जिससे मोक्ष ही होती है वह व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामका चौथा शुक्ल ध्यान है। भावार्थ—ध्येयद्रव्यको छोड़कर उसकी पर्यायोंका ध्यान करना और पर्यायोंको छोड़कर द्रव्यका ध्यान करना अर्थसंक्रांति है शास्त्रके किसी एक वचनका अवलंबन कर दूसरे वचनका अवलंबन करना एवं उसै छोड़ और दूसरे वचनका अवलंबन करना व्यंजनसंक्रांति है और काय योगको छोड़कर मनोयोग-

तथाऽविरतसद्दृष्टौ विरताविरतेऽपि च।
धर्म्यध्यानं जगुर्गौणं प्रमादिनि च संयते ॥९८॥
मुख्यवृत्त्या तदेव स्यादप्रमत्तादिधामसु।
शमकक्षपकश्रेण्योराद्यं शुक्लद्वयं क्रमात् ॥ ९९ ॥
सूक्ष्माक्रियं समाध्यास्ते स योगी योगिनां वरः।
समुच्छिन्नाक्रियं योगवर्जितः परमेश्वरः॥ १०० ॥
सिद्धा न ध्यानकर्तारो न गुणस्थानवर्तिनः।
अष्टात्मगुणसपन्ना अनष्टात्मगुणाः परं ॥ १०१

अर्थ–मिथ्यात्व सासादन और मिश्र इन तीन गुणस्थानोंमें रहनेवाले जीवोंके आर्तध्यान और रौद्रध्यान होते हैं। अविरतसम्यग्दृष्टि देशविरत और प्रमत्तसंयत इन तीन गुणस्थानोंमें धर्म्यध्यान तो होता है परंतु गौणरूपसे हो-

ता है और अप्रमत्त आदिगुणस्थानोंमें वह मुख्यरूपसे होता है। तथा उपशम श्रेणीमें पृथक्त्ववितर्कवीचार और क्षपकश्रेणीमें एकत्ववितर्कवीचारनामका शुक्लध्यान होता है। सयोगकेवली तेरहवें गुणस्थानमें सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और अयोगकेवली चौदहवें गुणस्थानमें व्युपरतक्रियानिवृत्तिनामका चौथा शुक्लध्यान होता है। जो जीव चौदहो गुणस्थानोंको अतिक्रांत करजाते हैं वे सिद्ध हो जाते हैं। उनके न तो किसीप्रकारका कोई ध्यान ही होता है और न गुणस्थान ही। उनके तो सम्यक्त्व आदि आठगुण प्रकट हो जाते हैं और वे आत्मिकगुण कभी नष्ट नहिं होते, सदा काल जैसेके तैसे बने रहते हैं ॥ ९७–१०१ ॥

चतुर्विधध्यानविधिःप्रसिद्धो यथायमन्योऽपि तथाप्रकारः—
पिंडास्पदं नाम पदास्पदं च रूपास्पदं रूपविवर्जितंच ॥१०२॥
त्रीण्यत्र सालंबनभावभांजि ध्यानं निरालंबनमंत्यमेकं ।
सालंबनाभ्यासनिबद्धलक्ष्यो भवेन्निरालंबनयोगयोग्यः॥१०३॥

अर्थ-ध्यानके जिसप्रकार आर्त्त रौद्र धर्म्य और शुल्क चार भेद वतला आये हैं उसीप्रकार उसके पिंडस्थ पदस्थ रूपस्थ और रूपवार्जित ये भी चार भेद हैं और इन चारप्रकारके ध्यानोंमें आदिके तीन ध्यान अर्थात् पिंडस्थ पदस्थ और रूपस्थ अवलंबन सहित हैं—इनमें किसी न किसी पदार्थका उनके स्वरूप विचारनेकेलिये अवश्य अवलंबन करना पड़ता है परंतु चौथा रूपवार्जितध्यान निरालंबन है उसमें किसी पदार्थका अवलंबन नहिं रहता तथा जो मुनि प्रथम सालंबन ध्यानोंका अभ्यास करता है वही निरालंबनध्यानके योग्य होता है अर्थात् विना पिंडस्थ पदस्थ रूपस्थ ध्यान किये कभी रूपवार्जित ध्यान नहिं होसकता ॥१०२-१०३॥

तरुणतरणिश्रेणीदीप्तप्रभावलयोऽपि स-
न्नमृतजलधावुत्कल्लोलैर्मनःस्नपयन्निव ।
जगदधिपतिर्ध्येयो मध्ये स्वपिंडमखंडितं
स्थिरपरिणतिं पिंडस्थाख्यं समाधिमधिष्ठितैः॥१०४॥

अर्थ–जो मुनि अखंड और निश्चल पिंडस्थ ध्यानका आचरण करना चाहते हैं उन्हें अपने शरीरके अंदर मध्याह्नकालके अनेक सूर्योंकी दीप्तिके समान देदीप्यमान भी जगतका स्वामी आत्मा अमृत समुद्रमें, उसकी मनोहर तरंगोंसे मनको स्नान कराता है ऐसा चिंतवन करना चाहिये। भावार्थ–जिससमय मुनि अपने शरीरके अंदर यह मानकर कि मेरा आत्मा अखंड तेजका राशि है और निराकुलतामयसुखमें गोता माररहा है, ध्यान करता है उससमय उसके पिंडस्थध्यान होता है ॥ १०४ ॥

शशधरकलाकांतं बीजाक्षरं परमेष्ठिनः
क्षरदविरलानंदस्रोतोरसायन-संस्तुते।
हृदयकमले नाभ्यंभोजे शिरःसरसीरुहे
दधति सुधियः पिंडस्थोयं समाधिरथापरः ॥१०५॥

अर्थ–जो मुनिगण, चंद्रमाकी कलाके समान कलावाले परमेष्ठी (अर्हंत सिद्ध

आचार्य उपाध्याय और साधु) के वाचक 'ओं' इस बीजाक्षरको, निरंतर झरते हुये अनुपम आनंदमयी रससे व्याप्त अपने हृदयकमलमें वा नाभिकमल और ललाट कमलमें, धारण करते हैं उनके भी पिंडस्थध्यान होता है तथा यह पिंडस्थध्यान पूर्वोक्त पिंडस्थध्यानसे भिन्न है—यह दूसरा पिंडस्थध्यान है। भावार्थ—कमलकी स्थापना हृदयमें वा नाभि और ललाटमें की जाती है इसलिये जो मुनि हृदय, नाभि, या ललाट किसी एक स्थानपर कमलकी रचनाकर बड़े उत्साह और आनंदसे 'ओं' इस बीजाक्षरको उस कमलमें स्थापितकर ध्यान करता है उसके भी पिंडस्थ नामका ध्यान होता है॥ १०५ ॥

निश्शेषधातुरहितोज्ज्वलदिव्यदेह ।
मुन्मीलदस्खलितकेवलसत्प्रकाशं ।
आत्मानमार्हतकलाकलितं विचिन्वन्
पिंडस्थमन्यतममेतदुपैति योगी ॥ १०६ ॥

अर्थ– जो योगी इसबातका ध्यान करता है कि मेरा शरीर रक्त मज्जा आदि निंदित धातुओंसे रहित दिव्य है और आत्माको अखंडकेवलज्ञानरूपी प्रकाशसे देदीप्यमान और अर्हतोंकी समस्त कलाओंसे भूषित मानता है उसके भी एक प्रकारका पिंडस्थ ध्यान होता है ॥ १०६ ॥

यदक्षरं पदं वाक्यमंतर्जल्पास्थिरीकृतं ।
ध्येयनामांकितं किंचित्स समाधिः पदास्पदः ॥ १०७ ॥

अर्थ–जिसपदार्थका ध्यान किया जाय उसके अंकित किसी अक्षर पद, या वाक्यको अपने चित्तमें स्थिर कर विचार करना पदास्पद-पदस्थ ध्यान कहाजाता है। भावार्थ–अ, सि, आ, उ, सा ओं, आदि अक्षर परमात्माके वाचक हैं इनमें जिसका ध्यान करना हो उसीके वाचक अक्षर, पद, या वाक्यको अपने हृदयमें निश्चयकर जो मुनि उसीका ध्यान करता है उसके पदस्थ ध्यान होता है ॥ १०७ ॥

अनंतोऽनंतबोधर्धेरधीशस्यातिशायिनः ।

अकारो लक्षकः साक्षादर्हतः परमेष्ठिनः ॥ १०८ ॥

अर्थ—अविनाशी, अनंतज्ञानरूपी ऋद्धिके धारक, सबके स्वामी सर्वोत्कृष्ट, परमपदके धारक भगवान अर्हतको साक्षात् बतलानेवाला अक्षर, अकार है—अर्थात् अकारका उच्चारण करते ही अर्हत परमेष्ठीका ज्ञान हो जाता है ॥ १०८ ॥

सिद्ध्यति स्म स्वभावेन सेधति स्म गतिं परां ।
सिद्धो देवः सिकारस्थो योगिनां सिद्धिसाधकः ॥१०९॥

अर्थ—जो स्वभावसे ही सिद्धपदको प्राप्त हुआ था। जिसने उत्तम गतिका भी लाभ किया था और जो योगियोंको सिद्धि मोक्ष प्रदान करनेवाला है वह परमात्मा सिद्ध है एवं उसका परिचायक अक्षर 'सि' है अर्थात् वह 'सि' अक्षरसे पहिचान लिया जाता है ॥ १०९ ॥

आचाराधारधुर्धुर्यान् ज्ञानैश्वर्येण संयुतान् ।
आकारो बोधयंत्येष आचार्यान्संघनायकान् ॥ ११० ॥

नहिं करते और द्वेषियोंसे द्वेष नहिं करते। अपने पराये दोनोंके प्रयोजन सिद्ध करनेवाले हैं और जो साधुवादके स्थान हैं अर्थात् जिनकी सब लोग प्रशंसा करते हैं वे साधु हैं उनका परिचायक अक्षर 'सा' है अर्थात् 'सा'से साधुओंका ग्रहण होता है ॥ ११२ ॥

अ-सि-आ-उ,-साक्षराणि क्षरंति न क्षणमपीह वै क्षेपात्।
पंचापि यस्य मनसः स पंचमीं याति गतिमाचिरात्॥ ११३ ॥

अर्थ—जो महानुभाव अ, सि, आ, उ, सा, इन पांच अक्षरोंको अपने मनसे क्षणभरकेलिये भी दूर नहिं करता-प्रतिक्षण जो इन्हींका विचार करता रहता है वह शीघ्र ही पांचवीं गतिको प्राप्त होता है अर्थात्—उसै निराकुलतामय मोक्षसुखकी प्राप्ति होती है ॥ ११३ ॥

अर्हद्देहाचार्योपाध्यायमुनीश्वरादिवर्णोत्थः।
प्रणवो हृदि प्रणीतः स्मरयत्येकोऽपि पंचगुरून्॥ ११४ ॥

अर्थ—अर्हंत अशरीर (सिद्ध) आचार्य उपाध्याय और मुनीश्वरोंके अ-अ-आ-उ और म् इन अक्षरोंसे बना हुआ 'ओं' यह मंत्र है यदि इसे हृदयमें धारण किया जाय तो यह अकेला ही पांच गुरुओंका स्मरण करादेता है अर्थात् केवल ओंकारके ध्यानसेही पांचों परमेष्ठियोंका ध्यान हो जाता है ॥ ११४ ॥

आलोकेनोपलंभेन मुनित्वेन च साधितः ।
ओंकारः सिद्धये ध्येयो रत्नत्रयमयोऽञ्जसा ॥ ११५ ॥

अर्थ—अर्हंतका अ, अशरीरका अ और आचार्यका आ इन तीनोंकी संधिसे सिद्ध आ अक्षरसे, उपाध्यायके 'उ' अक्षरसे और मुनिके म् अक्षरसे ओंकारकी सिद्धि होती है तथा यह ओंकार सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र स्वरूप है इसलिये मोक्षकी प्राप्तिकेलिये इसका अवश्य ध्यान करना चाहिये अर्थात् ओंकारके ध्यान करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ ११५ ॥

अधोलोकस्याद्यावयवमवनेरूर्ध्वजगतः

स्वयं पिंडीकृत्योपरि शशिकला निर्घृतिशिला ।
तदूर्ध्वं सिद्धाली लसदमृतविंदूज्ज्वलशिखा
निधाय ध्यायेयं प्रणवमिति लोकत्रयमयं ॥ ११६ ॥

अर्थ–अधोलोकका आदि अक्षर 'अ' अवनि (मध्यलोक) का आदि अक्षर 'अ' और ऊर्ध्वलोकका आदि अक्षर 'ऊ, इन तीनोंकी संधिकर ओंकार मंत्रका 'ओ' इतना भाग सिद्ध होजाता है तथा इसके ऊपर जो यह अर्धचंद्राकार चिन्ह है वह सिद्ध शिला है और उसके ऊपर जो अनुस्वार-विंदु रक्खी है-वह सिद्धोंकी पंक्ति है इस-प्रकार यह ओंकार तीनों लोकमय है ऐसा विचारकर इसका ध्यान करना चाहिये । भावार्थ–मनके स्तंभनकेलिये मुनिगण तीनोंलोकके स्वरूपका ध्यान करते हैं पीछे वे शुक्लध्यानके पात्र कहे जाते हैं परंतु यह ओंकार ही तीनों लोक स्वरूप है इसलिये इसका ध्यान करना भी तीनलोकका ध्यान करना कहा जाता है क्योंकि तीनलोकके ध्यानमें अधोलोक मध्यलोक ऊर्ध्वलोक सिद्धशिला और सिद्धोंका

ध्यान किया जाता है। ओंकारके ध्यानसे भी इन सब बातोंका ध्यान हो जाता है अर्थात् ओंकारका 'ओ' भाग अ, आ और ऊकी संधि करनेसे सिद्ध होता है क्योंकि यहां अकारसे अधोलोक, दूसरे अकारसे अवनि-मध्यलोक और ऊकारसे ऊर्ध्वलोकका ग्रहण किया गया है उसके ऊपर रक्खा हुआ (ँ)यह चिन्ह सिद्ध शिला है क्योंकि सिद्ध शिला आधे चंद्रमाके आकार बतलाई है और यह चिन्ह भी आधे चंद्रमाके आकार है तथा सिद्ध, अशरीर—शून्य सरीखे होते हैं इसलिये इसचिह्नकेऊपर रक्खे हुवे शून्यसे सिद्धोंका ग्रहण है ॥ ११६ ॥

अभिनिबोधकेन सममागममवधिमनःसपर्ययं
संयोज्याथ बोधमुत्कृष्टं केवलनाम निर्मलं । (?)
अमृतकलालयं च मोक्षाक्षरमुपरि नियोज्य विरचितः
प्रणवःपंचबोधफलनिचयं रचयतु पांचबोधिकः ॥ ११७ ॥

अर्थ—यह ओंकार पांच ज्ञान स्वरूप भी है क्योंकि अभिनिबोध (मतिज्ञान)का

अ आगम (श्रुतज्ञान) का आ, अवधिज्ञानका अ, अंतःकरणज्ञान(मनःपर्ययज्ञान)का अ, और अतिशय निर्मल ज्ञान केवलज्ञानका 'उत्कृष्ट' यह नाम निक्षेपकर उ, ग्रहण कर और आपसमें उनकी संधिकर ओंकारका'ओ'भाग सिद्ध हो जाता है तथा अमृतमय मोक्षका 'म्' ग्रहणकर और सबको एकसाथ मिलाकर बोलनेसे ओंकार मंत्र बनजाता है एवं इसके पांचज्ञान स्वरूप होनेके कारण पांच ज्ञानोंका जो फल होता है वही इससे होता है। भावार्थ–जिसप्रकार मतिज्ञानके ध्यानसे मतिज्ञान-का फल श्रुतज्ञानकेसे श्रुतिज्ञानका, अवधिज्ञानकेसे अवधिज्ञानका, मनःपर्ययज्ञानकेसे मनःपर्ययज्ञानका, केवलज्ञानकेसे केवलज्ञानका, और पांचोंके से पांचों-का फल मिलता है उसीप्रकार ओंकारमंत्रके ध्यानसे भी पांचोंका फल मिलता है क्योंकि यह ओंकार अ, आ, अ, उ, और म् के आपसमें मिलनेपर सिद्ध होता है सो यहां अभिनिबोधक–मतिज्ञानका अ, आगम–श्रुतज्ञानका आ, अवधिज्ञान-का अ, अंतःकरण–मनःपर्ययज्ञानका अ, उत्कृष्ट–केवलज्ञानका उ, और मोक्षका म् ग्रहणकर और उनसबकी व्याकरण शास्त्रके अनुसार आपसमें संधिकर ओंकार

हैं और उनके फलभी अतिशय कल्याणकारी और जुदे हैं परंतु मोक्षकी प्राप्ति इनतीनोंकी एकतासे ही होती है केवल सम्यग्दर्शन वा सम्यग्ज्ञान अथवा सम्यक् चारित्र मोक्षको नहिं प्राप्त करासकता उसीप्रकार 'अर्हं' इस मंत्रमें अकार रकार और 'हं' शब्दके फल जुदे २ और उत्तम हैं परंतु अभीष्टकी सिद्धि इनतीनों अक्षरोंके समुदायस्वरूप 'अर्हं' इस मंत्रके जपनेसेही होती है इसलिये जो मनुष्य अभीष्टकी सिद्धि करना चाहते हैं उन्हैं 'अर्हं' ऐसे मंत्रका आराधन करना चाहिये ॥ ११८ ॥

दधाति वसतिं मध्ये वर्णा अकारहकारयो–
रिति यदनघं शब्दब्रह्मास्पदं मुनयो जगुः ।
यदमृतकलां बिभ्रद्विंदूज्ज्वलां रचितार्चिषं
ध्वनयाति परंब्रह्मध्यानं तदस्तु पदं मुदे ॥ ११९ ॥

अर्थ–जिसके अकार और हकार अक्षरोंके मध्यमें समस्त वर्णमाला वास क-

रती है और इसी लिये जिसको मुनिगणोंनें शब्दब्रह्मका आस्पद बतलाया है एवं जो रेफसे व्याप्त अमृतकला अर्धचंद्राकार विंदुसे युक्त होकर परंब्रह्मके ध्यानको प्रकट करता है वह अर्हं मंत्र हमैं आनंद प्रदान करै । भावार्थ—'अर्हं' इसमंत्रमें अ, र, ह, और विंदु ये चार वर्ण हैं इसमें अ और ह तो शब्द ब्रह्मको बतलाते हैं क्योंकि अ अक्षरसे लगाकर ह अक्षर पर्यंत समस्त स्वर व्यंजन आजाते हैं और वे ही शब्द शास्त्रमें ब्रह्म नामसे कहेगये हैं तथा जो रेफ सहित अर्धचन्द्राकार विंदु है वह परंब्रह्म—परमात्मा सिद्धगणका ज्ञान कराती है क्योंकि सिद्ध अर्द्धचद्राकार सिद्ध शिलापर रहते हैं, देदीप्यमान हैं और शून्य—अशरीर हैं इसलिये ऐसा शब्दब्रह्म और परंब्रह्मका ज्ञान करानेवाला अर्हं मंत्र हमारा कल्याण करै यह प्रार्थना है ॥ ११९ ॥

यस्मिन् रविस्फुरणमुद्दालितांधकार—
मिंदोरुदेत्यमृतविंदुमती च लेखा ।
तस्मिन्वियत्यकलिताद्यवसानसीम्नि

धन्याः प्रविश्य किल मोक्षपदं लभंते ॥ १२० ॥

अर्थ—यह 'अर्हं' मंत्र एकप्रकारका विस्तीर्ण आकाश है क्योंकि आकाशमें जैसा अंधकारको नाशकरनेवाले रविका स्फुरण, सूर्यका स्फुरण है उसीप्रकार 'अर्हं' इस मंत्रमें भी रेफका विस्फुरण है और इस रेफका फल अंधकारका नाश होना है। जिसप्रकार आकाशमें चंद्रमाकी अमृतमयी लेखाका उदय होता है उसीप्रकार अर्हं इसमंत्रमें भी शांतिप्रदान करनेवाली बिंदुसे उज्वल चंद्राकार रेखा, मोजूद है। जिसप्रकार आकाशकी सीमा अकलित-अपरमित है न उसकी आदि है और न अंत है उसीप्रकार 'अर्हं' इसमंत्रकी आदि और अंतकी सीमा भी अकलित-अकारसे कलित सहित है अर्थात् आदि और अंतमें इसके अ है इसलिये ऐसे अनुपम अर्हं मंत्ररूपी आकाशमें प्रवेश करनेवाले मनुष्य धन्य हैं और वे ही मोक्षपदको प्राप्त होते हैं। भावार्थ—बहुतसे लोग आकाशका ध्यान किया करते हैं यदि वे 'अर्हं' इसमंत्रका ध्यान करैं तब भी आकाशका ध्यान होजाता है (क्योंकि जिसप्रकार आकाशमें रविस्फुरण—सूर्यका स्फुरण होता है और उससे

अर्हँ शब्दका अर्थात् अर्ह शब्दका यदि मनके अंदर ध्यान किया जाय तो उससे सर्वज्ञनाथके पदकी सिद्धि अर्थात् मोक्ष लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है। भावार्थ—जिस अर्ह मंत्रका रेफ, रागके कारणोंका नष्ट करनेवाला है और जो (ँ) इसरूपकी कलासे शोभित है ऐसे अर्ह मंत्रके ध्यान करनेसे मोक्ष सुखकी प्राप्ति होती है इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि वे ऐसे अनुपम अर्ह मंत्रका अवश्य आराधन करैं॥१२१॥

अधोग्राग्निभ्यां यद्द्दगवगममुद्रामथ कलां ।
सुकृत्यं संधत्ते नभासि परमात्मानममलं ।
प्रधानं तद्बीजाक्षरमविरतं ध्यायतु बुधः
स्वरा वर्गाः पञ्चप्रभृतिरिति शेषः परिकरः॥ १२२ ॥

अर्थ—जो ह्रीँ मंत्र अपने ऊर्ध्व और निम्न रेफोंसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानको, व कला (ँ)से सम्यक्चारित्रको और शून्यसे निर्दोष परमात्माको धारण

१ ह्रीँ बीजाक्षर भी है उसमें भी यह बात होती है इसलिये उसका ध्यान करना भी योग्य है।

वाह्यांतरंगरिपुचक्रपराजयाय
ध्येयः सुधीभिरपराजितमंत्रराजः॥ १२३ ॥

अर्थ-(जो मोक्षरूपी नगरके मार्गके समान है जिसमें नमः (णमो) पदके साथ पांचों परमेष्ठीके वाचक पदोंका प्रयोग है ऐसे अपराजितमंत्रका अर्थात्-'णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आयरीयाणं णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं' इसमंत्रका वाहय अभ्यंतर दोनों प्रकारके शत्रुओंको जीतनेकेलिये विद्वानोंको ध्यान करना चाहिये)। भावार्थ-'णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आयरीयाणं णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं, इसमंत्रमें अर्हत आदि पांचों परमेष्ठियोंको नमस्कार किया है। इससे मोक्षकी प्राप्ति होती है। वाहय अभ्यंतर दोनों प्रकारके शत्रु समूहका विजय होता है और यह मंत्र किसी मंत्र द्वारा जीता नहिं जासकता इसलिये अपराजित है अतः विद्वानोंको चाहिये कि वे अपने अभीष्टकी सिद्धिकेलिये अवश्य इस मंत्रका आराधन करै ॥ १२३ ॥

स्वपन् जाग्रत्तिष्ठन्नथ पथि चलन्वेश्मनि वसन्
स्खलन्-भ्रश्यन् क्लिश्यन् वनगिरिसमुद्रेष्ववतरन् ।
नमस्कारान् पंच स्मृतिखनिनिर्वातानिव मनः-
प्रशस्तौ विन्यस्तानिव वहति यः सोऽत्र सुकृती॥१२४॥

अर्थ-(जो महानुभाव मनुष्य सोते जगते बैठते मार्गमें चलते घरमें स्थित होते स्खलित भ्रष्ट क्लिष्ट होते और वन पर्वत एवं समुद्रोंमें भी पतित होते हुये, प्रसन्न मनसे निश्चल हो पंच नमस्कारमंत्रकी आराधना करता है वह मनुष्य पुण्यवान कहा जाता है)॥ १२४ ॥

रूपवद्वस्तुनि ध्यानं रूपस्थं रूपितं जिनैः
रूपादित्यक्तचिद्रूपगोचरं रूपवर्जितं ॥ १२५ ॥

अर्थ-जो ध्यान रूपवान पदार्थका कियाजाय वह रूपस्थ कहा जाता है और रूपादिरहित केवल शुद्ध चिद्रूपके ध्यानको रूपवर्जित-रूपातीत नामका

ध्यान कहते हैं ॥ १२५ ॥

रक्ताशोकातपत्रत्रयचमरमरुन्मंडलीपुष्पवृष्टि--
स्पष्टोद्यद्दिव्यघोषद्युतिवलयमहासिंहपीठद्युवाद्यैः ।
साश्चर्यैः प्रातिहार्यैर्युगपदतिशयैर्भ्राजमानःसमग्रै--
र्ध्येयः श्रीमंडपांतः प्रणतपदयुगो योगिवृंदैर्जिनेंद्रः ॥१२६॥

अर्थ– जो योगी रूपस्थध्यानके आराधन करनेवाले हैं उन्हें–अशोक वृक्ष, तीन छत्र, चमर, सुगंधितपवन, पुष्पवर्षा, दिव्यध्वनि, भामंडल और सिंहासन इन आठ प्रातिहार्य और चौंतीसप्रकारके अतिशयोंसे मंडित, देव इंद्र नरेंद्र आदिसे पूजित, समवसरणमें स्थित भगवान जिनेंद्रका ध्यान करना चाहिये। भावार्थ–जिससमय भगवान जिनेंद्र चार घातिया कर्मोंका नाशकर अर्हत होजाते हैं उससमय उनके अष्ट प्रातिहार्य समवसरणकी विभूति और एक मुखका चौमुख दीखना आदि चौंतीस प्रतिशय प्रकट हो जाते हैं इसलिये जो योगी इसप्रकारके

जिनेंद्रका ध्यान करते हैं वे रूपस्थध्यानी कहे जाते हैं ॥ १२६ ॥

मुक्तिश्रीतल्पकल्पारुणरुचिरुचिरोत्तानहस्तांघ्रिपद्मं
पर्यंकं मंदराद्रिद्राढिमपरिवृढप्रौढवंधं दधानः ।
योगींद्रश्चंद्रकांताचलविमलतनुर्निश्चलार्धावमीलि-
न्नासाग्रन्यस्तनेत्रो मनसि सुकृतिभिर्दृश्यते योगदृष्ट्या ॥

अर्थ—जो योगींद्र अर्हंत मुक्तिरूपी स्त्रीके हथेलीके समान रक्त, मनोहर और ऊंचेको उठेहुये हस्तकमल और चरणकमलोंसे शोभित हैं मंदराचलके समान अचल और दृढ़रूपसे बंधेहुये पर्यंक आसनके धारण करनेवाले हैं, चंद्रकांत मणिके समान निर्मलशरीरके धारक और नासिकाके अग्रभागपर नेत्रोंके लगानेवाले-नासाग्रदृष्टि हैं ऐसे योगींद्रको पुण्यवान मनुष्य अपनी योगदृष्टिसे चित्तके अंदर स्पष्टरूपसे देख लेते हैं। भावार्थ—जो मनुष्य पुण्यवान और पिंडस्थध्यानके आराधन करनेवाले हैं वे पिंडस्थसमाधिके बलसे भगवान अर्हंतके हस्त चरण शरीर और

नासाग्रदृष्टिपनेको अपने मनमें स्पष्टरूपसे जान लेते हैं ॥ १२७ ॥

पिंडस्थप्रभृतित्रयं सकलमित्याहुः समाधिं बुधा
मन्यंते चतुरः कलान्वितगुरूनाश्रित्य वा तादृशान् ।
सिद्धात्मा रसरूपवर्जिततया नीरंजनो निष्कल-
स्तस्य ध्यानमतीतरूपममलं तन्निष्कलं वा विदुः ॥ १२८ ॥

अर्थ—पिंडस्थ पदस्थ और रूपस्थ ये तीन प्रकारके सकल ध्यान शरीरके धारक अर्हत आचार्य उपाध्याय और साधु इन चार परमेष्ठियोंके वा इनके समान अन्य महात्माओंके अवलंबनसे होते हैं उनमें अर्हत आदिके रूप आदिका विचार रहता है इसलिये ये ध्यान सावलंबन हैं परंतु रूपातीतध्यान निरालंबन है रूप आदिको विना अवलंबन किये ही होता है क्योंकि उसमें सिद्धोंका ध्यान किया जाता है और सिद्ध रस रूप आदिसे रहित, कर्म कालिमा और शरीरसे भी विनिर्मुक्त हैं । अतः अतिशय निर्मल इस रूपातीत ध्यानको निष्कल ध्यान भी

कहते हैं। भावार्थ—जिस ज्ञानमें रूप रस कला आदिका अवलंबन हो अर्थात्–रूप रस कला आदिके द्वारा शुद्ध आत्माका ध्यान किया जाय वह ध्यान सावलंबन है और जो रूप-रस कला आदिसे रहित शुद्ध आत्माका ध्यान हो वह निरालंबन ध्यान है। पिंडस्थ पदस्थ और रूपस्थ ये तीन ध्यान ऐसे हैं कि इनमें अर्हत आदि चारो पमेष्ठियोंके रूप रस आदिका अवलंबन रहता है इसलिये सावलंबन हैं और रूपातीत ध्यानमें रूप रस कला शरीर आदिसे रहित शुद्ध सिद्ध परमेष्ठीका ध्यान रहता है इसलिये वह निरालंबन है। इस रूपातीतध्यानको निष्कलध्यान भी कहते हैं ॥ १२८ ॥

नान्यैर्जन्यो न परजनको नान्यकर्त्ता न कार्यं
नान्यान् भावाननुभवति यो नानुभाव्योऽन्यभावैः।
पुण्यापुण्यप्रकृतिषु न यो बंधको नापि बंध्यः
सिद्धात्मासौ वितरति परां सिद्धिमध्यात्मदृष्टः ॥१२९॥

अर्थ—यह अध्यात्म विद्याद्वारा देखागया सिद्ध—परमात्मा न तो किसी दूसरे पदार्थसे उत्पन्न हुआ है। न दूसरे पदार्थोंका उत्पन्न करनेवाला है, न किसी पदार्थका कर्ता है और न कार्य है। न अन्य पदार्थोंका अनुभव करता है और न किसीके द्वारा अनुभव किया जाता है। पुण्य पापोंका बांधनेवाला भी नहीं है और न उनसे बंधने ही योग्य है इसलिये ऐसा परमात्मा सदा सिद्धि प्रदान करता है ॥ १२९ ॥

सुखमखिलमनंतज्ञानमानंत्यमानं
बलमतुलमनंतं दर्शनश्रीरनंता।
पदमसममनंतं यस्य नादिर्न चांतः
स जयति परमात्मा निष्कलो निष्कलंकः ॥१३०॥

अर्थ—जो परमात्मा अनंतसुख अनंतज्ञान अनंतवीर्य और अनंतदर्शन इसप्रकार अनंत चतुष्टयका धारक है आदि अंत रहित अनुपम और अनंत सिद्धपदसे भूषित है समस्तप्रकारकी देहोंसे और कलंकोंसे मुक्त है ऐसा परमात्मा

सदा इसलोकमें जयवंत रहो ॥ १३० ॥

प्रतिफलितमिवांतर्दर्पणादर्पणं यः
स्फुरितमिदमनंतानंतबोधैर्विशुद्धः ।
कलयति सदनंतानंतमाकाशमित्थं
स भवति कलनीयो निष्कलात्मात्मनैव ॥ १३१॥

अर्थ—जो अनंतानंतज्ञानका धारक परमात्मा कर्म रहित होनेके कारण दर्पणमें दर्पणकेसमान अपने अंतरंगमें प्रतिविम्बित और स्फुरायमान, अनंतानंत आकाशको 'ऐसा है' इसप्रकार जानता है वह निष्कलंकात्मा परमात्मा अपनी आत्मासे ही निश्चयके योग्य है । भावार्थ—यद्यपि आकाश अनंतानंत है तथापि उसे जो विशुद्ध परमात्मा जिसप्रकार दर्पणमें प्रतिफलित दर्पण इसरूपका-ऐसा है ऐसा स्पष्टरूपसे जानलिया जाता है उसीप्रकार अपने अनंतज्ञानके माहत्म्यसे स्पष्ट जानलेता है और समस्त कलंकोंसे रहित है वह(परमात्मा)अपनेसेही ज्ञात होता है दूसरा कोई

पदार्थ उसका ज्ञान नहिं करा सकता ॥ १३१ ॥

न स गुरुर्न लघुर्न च मध्यमो
न च शिशुर्न युवा न वयोऽधिकः ।
न वनिता न पुमान्न नपुंसकं
न भिदुरश्छिदुरो न स भंगुरः ॥ १३२ ॥

अर्थ—वह परमात्मा न भारी है न हलका है न मध्यम-बीचका है । न बालक युवा और वृद्ध है न स्त्री पुरुष और नपुंसक है एवं भिदनेवाला छिदनेवाला और क्षणभंगुर भी नहीं है । भावार्थ—भारी, हलका, बालक, युवा, वृद्ध, स्त्री, पुरुष, नपुंसक, भेदन, छेदन, और क्षणभंगुरपना जड़ शरीरकी पर्यायें हैं परमात्मा शरीरसे रहित है इसलिये उसमें भारीपना आदि कोई बात नहीं ॥ १३२ ॥

न सरसः सहजेन न नीरसो
द्रवमयप्रकृतिर्न घनो न च ।

न विवृतो भगवान्न स संवृतो
न विरतोऽविरतो न निगद्यते ॥ १३३ ॥

अर्थ—वह परमात्मा, न स्वभावसे सरस—रस सहित है, न नीरस—रसरहित है न द्रवित है न कठिन है न विवृत—खुलाहुआ है न संवृत—ढकाहुआ है न विरत वैरागी है और न अविरत—सरागी है ॥ १३३ ॥

न कुरुते हरते न स रक्षति
क्षपितमोहतमा न समीहकः ।
न सतमा न सरजा न स सत्त्ववान्
परगुणैर्न गुणी गुणवान् निजैः ॥ १३४ ॥

अर्थ—वह परमात्मा न कुछ काम करता है न किसीका संहार और रक्षा करता है । मोहरूपी प्रबल अंधकारका नाश करनेवाला है । इच्छा अज्ञानांधकार और कलंकोंसे रहित है बलवान है और परपदार्थोंके गुणोंसे गुणवान न होकर अपने-आत्मि-

क गुणोंसे गुणवान है। भावार्थ—बहुतसे मनुष्य परमात्माके तीन भेद मानते हैं ब्रह्मा विष्णु और महेश। और उनमें ब्रह्माको जगतका बनानेवाला विष्णुको उसकी रक्षा करनेवाला, और महेशको प्रलयकालमें संहार करनेवाला मानते हैं परंतु वह परमात्मा राग द्वेष आदिसे रहित होजानेके कारण न किसीका कर्ता है न हर्ता और रक्षक है उसने समस्त मोहको दूर करदिया है इच्छाओंको जीत लिया है किसीप्रकारका अज्ञान और मलभी उसके पास नहिं फटकनेपाता तथा वह महाबलवान और पर पदार्थोंके गुणोंसे गुणी न होकर निर्दोष आत्मिक गुणोंसे गुणी है ॥ १३४ ॥

न करणं न स कर्म न कारको
न नशुभो न शुभो न शुभाशुभः।
स हि विशुद्धिविशोधितबोधिमान्
निरवधिर्निरुपाधिरधीश्वरः ॥ १३५ ॥

अर्थ—वह परमात्मा न करण है 'उसके द्वारा कोई काम नहिं होता' न कर्म है 'दूसरोंके द्वारा स्वयं नहींहोता है' और न कारक है 'किसी क्रियाको करता है'। न शुभ है न अशुभ है और न शुभाशुभ है। विशुद्धिद्वारा अतिशय विशुद्ध और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र स्वरूप है असीम, कर्मोंकी उपाधिसे रहित, और सबका स्वामी है ॥ १३५ ॥

परमशर्मनिधेः परमात्मनः
परमरूपनिरूपणमांतरं ।
निरुपमं तदकृत्रिमसुंदरं
न वचसो मनसोऽपि न गोचरं ॥ १३६ ॥

अर्थ— इसप्रकार परम कल्याणके भाजन परमात्माका स्वरूप सर्वोत्कृष्टस्वरूप है इसलिये उसका निरूपण करना अतिगहरा-कठिन है क्योंकि वह निरुपम-उपमा रहित है अकृत्रिम सुंदर है—बनावटी न होकर भी अतिशय सुहावना है तथा मन

और वचन द्वारा भी उसका वर्णन नहिं होसकता ॥ १३६ ॥

तदाखिलं न किल श्रुतदेवता
गादितुमुत्सहते भगवत्यपि ।
कथमतत्त्वदृशो वत मादृशाः
कुकवयो निगदेन गदंत्वमी ॥ १३७ ॥

अर्थ—यदि साक्षात् भगवती श्रुतदेवी भी इस बातका साहस करै कि मैं परमात्माके विषयमें कुछ कहूं—उनके अनंतज्ञान आदिका यथार्थ प्रतिपादन करूं तो वह भी जब नहिं करसकती तब मेरे समान जराभी तत्त्वको न जाननेवाले निंदित तुच्छ कवि कैसे उनके स्वरूपका वर्णन करसक्ते हैं ? अर्थात् परमात्माके अविकल स्वरूपका प्रतिपादन करना एकप्रकारसे असंभव है ॥ १३७ ॥

यदि मनसि गतस्ते सिद्धिशुद्धांतरंगो
भव भृशमभवात्मध्यानशुद्धांतरंगः ।

सकलविमलबोधध्याननिर्धूतकर्मा
प्रकृतिमुपलभस्व स्वात्मनो निष्कलंकः ॥ १३८ ॥

अर्थ–हे आत्मन्! यदि तेरा मन मोक्षकी प्राप्तिकेलिये लालायित है तो तू अपने मनको परमात्माके ध्यानसे शुद्ध बना- परमात्माका ध्यान कर और सकल एवं विमल ज्ञान वा उसके धारक परमात्माके ध्यानसे समस्त कर्मोंको जलाकर और समस्त कलंकोंसे रहित होकर स्वात्मा शुद्ध-आत्माकी प्रकृतिको प्राप्त कर। भावार्थ--जबतक मन परमात्माके ध्यानसे शुद्ध न होगा तबतक कर्मोंका नाश, कलंकोंका परिहार और शुद्धात्माका स्वभाव भी प्राप्त न होगा इसलिये जो महानुभाव शुद्धात्माके स्वरूपके अभिलाषी हैं उन्हें परमात्माके ध्यानसे मनको शुद्धकर तथा कर्म और कलंकोंका नाशकर उसे प्राप्त करना चाहिये ॥ १३८ ॥

योज्या पात्रे क्वचिदपि दशा कापि न स्नेहदिग्धा
नैतस्यार्चिर्व्यवहिततरं बोधनेऽन्वेषणीयं।

हेतुः सर्वोऽजनपरिणतेरेष नीरंजनत्वा-
दात्मज्योतिर्ग्रहणविधिना बोध्यतामात्मदीपः ॥ १३९॥

अर्थ--इस आत्माके ज्ञानकरानेमें न तो तैल वत्तीका दीपक ही सहायता करसकता है और न अन्य कोई ज्योतिस्वरूप-घट पट आदिकको प्रकाशित करनेवाले पदार्थ ही मदद पहुंचा सक्ते हैं क्योंकि वे सब कारण रूपी पदार्थोंके द्योतक हैं आत्मा अरूपी निष्कलंक है। उसको तो उसी आत्माकी ज्योति ही ज्ञान करासक्ती है इसलिये आत्माके द्वाराही आत्माका ज्ञानकरना उचित है ॥ १३९ ॥

सौरं चांद्रं मणिगणभवं वैद्युतं दाहनं वा
नास्तव्यस्तं प्रभवति महो यस्य विध्वंसनाय ।
मोहध्वांतं तदभिभवितुं योगभाजो भजंतां
ज्योतिर्नैरंजनमघभिदेऽनश्वरं भास्वरं च ॥ १४० ॥

अर्थ--सूर्य चंद्रमा मणि विजली और अग्निका तेज अस्त व्यस्त है--थोड़े देशमें

रहनेवाला और विनाशीक है इसलिये वह मोहरूपी अंधकारके नाश करनेकेलिये समर्थ नहिं हो सकता। कभी भी उससे मोहांधकार नष्ट नहिं हो सकता। किंतु मोहरूपी अंधकार और पापसमूहका नाश निष्कलंक आत्माकी ज्योतिसे होता है क्योंकि वह अविनाशी और सर्वत्र देदीप्यमान है इसलिये योगियोंको पापोंके नाशार्थ उसीका ध्यान करना योग्य है। भावार्थ—यद्यपि संसारमें सूर्य चंद्रमा मणि विजली आदि वहुतसे तेज हैं परंतु वे सव थोड़े देशमें रहनेवाले और विनाशीक हैं। उनमें ऐसा एकभी तेज नहिं जो मोह और पापरूपी निविड़ अंधकारको दूर करसके। किंतु एक आत्मतेज ही ऐसा है जो सव तेजोंमें अनुपम हैं अविनाशी और सर्वत्र फैला हुआ है तथा इसके प्रगट होते ही मोह और पापरूप अंधकार देखते देखते पलायन कर जाते हैं इसलिये योगियोंको आत्मतेजका ही ध्यानकरना उचित हैं ॥ १४० ॥

प्रालेयांशोरविकलकला श्रीरिवोष्मेव वह्ने—
स्तेजः सूर्यादिव जलनिधेर्वारिवेलावलीव।

वर्त्तिर्दीपादिव न हि पृथग्वर्तिनी ज्ञानशक्ति-
र्यस्मात्तस्मात्कुरुत परमादात्मनः स्वात्मलाभं ॥ १४१

अर्थ--जिसप्रकार चंद्रमासे कला, अग्निसे उष्णता, सूर्यसे तेज, समुद्रसे जल और तरंगे एवं दीपकसे वत्ती पदार्थ जुदे नहिं उसीप्रकार ज्ञानशक्ति भी आत्मासे जुदी नहिं है इसलिये अवश्य योगियोंको अपनी आत्मासे अपनी आत्माका स्वरूप प्राप्त करना चाहिये । भावार्थ-अनेक सिद्धांतकार गुण गुणी और अवयव अवयवीका सर्वथा भेद मानते हैं परंतु वे सिद्धांत सर्वथा निर्मूल ज्ञानपड़ते है क्योंकि कोई भी अनुभवी विद्वान इसबातको नहिं कह सकता कि कला चंद्रमासे भिन्न हैं । उष्णता अग्निसे, तेज सूर्यसे, जल वा तरंगे समुद्रसे, और वत्ती दीपकसे जुदी है यदि कला आदि पदार्थ चंद्रमा आदिसे सर्वथा भिन्न मान लिये जांयगे तो चंद्रमा आदि पदार्थ ही सिद्ध न हो सकैंगे क्योंकि कला आदिका समुदाय ही चंद्रमा आदि पदार्थ हैं इसीप्रकार ज्ञानशक्तिभी आत्मासे भिन्न नहीं, गुण गुणी होनेसे आत्मा और ज्ञान एकही हैं इसलिये आत्मासे ज्ञानशक्तिका लाभ करना

सम्यग्दर्शन आदि स्वरूप ही परमात्मा है इसलिये योगीगण विकल्पोंसे रहित अपने आत्मामें सम्यग्दर्शन आदि स्वरूप अविनाशी परमात्माका निश्चय करते हैं ॥१४२॥

तैस्तैरात्मस्वरूपं निखिलमविकलं लक्ष्माभिर्लक्षयित्वा
हित्वा हेयामविद्यां भृशमहितकरीं दीर्घसंसारहेतुं ।
अध्यास्तेऽध्यात्मविद्यां हितवसतिमुपादेयबुद्ध्याधिकां यः
पुंसस्तस्यावरीतुं क्षिपति निरुपमां मालिकां मोक्षलक्ष्मीः॥

अर्थ—इसप्रकार आत्माके परिचायक जो जो लक्षण हैं उन सबसे भलेप्रकार आत्माका स्वरूप पहिचानकर जो मनुष्य त्यागने योग्य, अहितको करनेवाली एवं दीर्घकालतक संसारमें घुमानेवाली अविद्याको छोड़कर परमहितकारिणी, ग्रहण करनेयोग्य अध्यात्मविद्यामें अधिक स्थिति करता है उसके गलेमें मोक्ष-रूपी लक्ष्मी प्रसन्न होकर वरनेकेलिये वरमाला डालती है अर्थात् वह सर्व्वोत्तम पुरुष मोक्ष प्राप्त करलेता है। भावार्थ—आत्माके जनानेवाले इस ग्रंथमें बतलाये

गये वे और उनसे अन्यभी बहुतसे लक्षण हैं परंतु जबतक संसारमें भ्रमण करानेवाली महा निकृष्ट अविद्याका प्रभाव रहैगा और परमार्थविद्या जो कि परमहितकारिणी है उसका आश्रय न किया जायगा तबतक न आत्मस्वरूपकी प्राप्ति हो सकती है और न मोक्षसुख ही मिलसकता है इसलिये योगियोंको चाहिये कि वे अविद्याको हटाकर अध्यात्मविद्याका यथाशक्ति अवलंबन करैं और आत्माके लक्षणोंको जानकर उसका स्वरूपपहिचानें जिससे उन्हैं मोक्षसुखकी प्राप्ति होजाय ॥ १४३ ॥

नात्यंताभावरूपा न च जडिममयी व्योमवद्व्यापिनी नो
न व्यावृत्तिं दधाना विषयसुखघना नेष्यते सर्वविद्भिः ।
सद्रूपात्मप्रसादद्दगवगमगुणौघा च संसारसारा
निस्सीमात्यक्षसौख्योदयवसतिरनिर्व्यापिनी मुक्तिरुक्ता १४४

अर्थ—यह मोक्ष न तो अत्यंताभावरूप है । न जड़तामय है, न आकाशके समान व्यापक है, न व्यावृत्तिको धारणकरनेवाली अर्थात् उससे लोटकर जीव चले

आते हैं, ऐसी है और न विद्वानलोग उसै सघन विषयसुखका प्राप्त होजाना स्वरूपही मानते हैं परंतु वह सत्स्वरूप है, निराकुलतामय है, दर्शन ज्ञान आदि गुणस्वरूप है, संसारमें सार है, असीम है, अतींद्रियसुखका भंडार और अव्यापक है। भावार्थ—बौद्ध मानते हैं कि जिसप्रकार दीपक बुझ जाता है उसीप्रकार आत्मतत्वका सर्वथा नाश होजाना मोक्ष है। नैयायिक आदिका यह सिद्धांत है कि ज्ञान आदि दुःखके कारण हैं-ज्यों ज्यों ज्ञानशक्ति बढ़ती जाती है त्यों त्यों जीवको आकुलता होती जाती है किंतु जिससमय ज्ञान और उसके सहभावी इच्छा सुख आदि गुण नष्ट होजाते हैं उससमय इसको किसीप्रकारकी आकुलता नहिं रहती इसलिये जहां ज्ञान आदिका अभाव है वही मोक्ष है इसतरह वे आत्माकी जड़तारूप अवस्थाको मोक्ष मानते हैं। तथा कोई समस्त जगतमें आत्माके समान प्रदेशोंके फैलाव होनेपर मोक्ष होती है ऐसा स्वीकार करते हैं। अनेक मतकार यह मानते हैं कि जीव मोक्षमें जाकर लोट आते हैं और अनेक विवेकविहीन मनुष्योंका सिद्धांत यह है कि संसारमें परिपूर्ण इंद्रियोंका सुख प्राप्त होजाना ही मोक्ष

है परंतु इनमें एकभी सिद्धांत युक्तियुक्त नहिं मालूम पड़ता क्योंकि एक तो आत्मा नित्य–अविनाशी पदार्थ है उसका कभी नाश हो नहिं सक्ता। दूसरे मोक्षकी प्राप्ति इसलिये की जाती है कि हमारी आत्मा शांतिमय सुखका अनुभव करै परंतु यदि वह मोक्ष अवस्थामें जाकर नष्ट होगया तो उसकी प्राप्तिकेलिये उसका प्रयत्न ही निरर्थक गया। उसै क्या लाभ हुआ ? तथा ऐसा कौन बुद्धिमान मनुष्य होगा जो अपने नाशकेलिये उपाय करैगा ? इसलिये आत्माकी समूलनाश अवस्था कभी मोक्ष नहिं होसकती। आत्माकी जड़ अवस्थाभी मोक्ष नहिं क्योंकि निजस्वरूप अनंतज्ञान और अनंतसुखकी प्राप्तिकेलिये मोक्षका उद्यम किया जाता है यदि वहां जाकर हमारी निज संपत्तिभी नष्ट होगई तो उसकी प्राप्तिसे लाभही क्या हुआ ? दूसरे–मोक्ष स्थानमें स्थित आत्मा और दीवाल आदि जड़ पदार्थोंमें भेदही क्या रहा ? क्योंकि मोक्षमें आत्माभी जड़ और दीवाल आदि पदार्थ भी जड़ दोनों समान हैं इसलिये आत्माकी जड़ अवस्थाभी मोक्ष नही। यदि मोक्षसे लोटकर फिर संसारमें आनापड़ा और यहांके दुःख भोगने

पड़े तो मोक्षकेलिये किया हुआ समस्त परिश्रम ही व्यर्थ गया क्योंकि सदा कालकेलिये तो संसारसे छूटना हुआ ही नहिं तथा संसारके कारण रागद्वेष आदि वासना है और जिससमय ये समस्त वासना नष्ट हो जाती हैं उससमय मोक्ष होती है इसकारण मोक्षमें चले जानेपर वासनाके अभावसे भी फिर संसारमें लोटकर नहिं आया जा सकता इसलिये मोक्ष जाकर पुनः आत्मा लोटकर संसारमें आ-जाता है यह सिद्धांत नितांत भ्रमपूर्ण है और परिपूर्ण विषय सुखकी प्राप्ति भी मोक्ष नहिं कही जासकती क्योंकि वैषयिक सुख विनाशीक और परिणाममें दुःख देनेवाला है एवं मोक्षसुख नित्य और सदा निराकुलतामय आनंद प्रदान करने-वाला है इसलिये वैषयिक सुख जरा भी उसकी तुलना नहिं करसकता। अतः मोक्षपदार्थ सत्स्वरूप है, उसमें जाकर निराकुलतामयसुखका भोक्ता कर्ममलसे रहित आत्मा विद्यमान रहता है, आत्मप्रसाद और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान आदि गुणोंका भंडार है सर्वोत्कृष्ट, असीम, अनंत अतींद्रिय सुखकाभंडार और अव्यापक अर्थात् जिस शरीरसे जिसका आत्मा मोक्षको प्राप्त करता है उसका आत्मा उस अंतिमशरीरके परिमाणही रहता है न्यूनाधिक जरा भी नहिं होता ॥ १४४ ॥

ध्यानाग्निःपंकशीघ्रप्रघटितमहाकर्मसंघट्टशुक्ते-
भेदेन प्रोल्लसंती धृतसकलयथाख्यातवृत्ता महार्घा ।
स्वच्छात्मीयस्वभावप्रतिफलदमलांतर्गुणा नः प्रदेया-
दंतर्ज्योतिःप्रकाशं हृदयविनिहिता सिद्धमुक्तावलीयं॥१४५॥

अर्थ—जो सिद्धोंकी पंक्तिरूप मुक्तावली, ध्यानके द्वारा पंकरहित नवीन महाकर्मोंकी राशिरूपी सीपको भेदकर प्रकाशमान है, सकलयथाख्यातरूपीवृत्त (चरित्र निज गोलाई) को धारण करनेवाली है, । बहुमूल्य है और जिसमें स्वभावस्वरूप गुण सदा प्रतिविम्बित रहते हैं वह (सिद्धोंकी पंक्तिरूपी मुक्तावली) हृदय (कंठ, मन) में धारणकी गई आत्मज्योतिके प्रकाशको प्रदान करै । भावार्थ—जिसप्रकार मुक्ताओंका समूह सीपसे वाहिर निकलकर अतिशय प्रकाशमान जान पड़ता है, गोल और वहुमूल्य होता है एवं उसमें उसके चाकचिक्य आदि गुण प्रतिविम्बित रहते हैं तथा कंठमें पहिरनेपर अपनी कांतिसे जगमगा

देता है उसीप्रकार सिद्ध भी जिससमय कर्मावरणोंसे रहित होजाते हैं उससमय देदीप्यमान मालूम पड़ते हैं, यथाख्यातचारित्रके धारक और महार्घ कहे जाते हैं एवं उनकी आत्मामें अनंतज्ञान अनंतदर्शनरूपीगुण प्रतिबिम्बित रहते हैं इसलिये हमारी प्रार्थना है कि हृदयमें धारण किये गये वे सिद्ध परमात्मा हम योगियोंको-केवलज्ञान आदि आत्माकी ज्योति प्रदान करैं ॥ १४५ ॥

श्लाघ्यास्ते ते महार्घा जगति कृतधियः सर्वथा तेकृतार्था-
स्तेभ्योऽस्माभिः प्रणामांजलिपुटघटना भक्तिनम्रीकृतेयं।
येषां निर्वाणलक्ष्मीनवयुवतिवशीकारमंत्रस्तथेति
स्फूर्जत्यात्मप्रबोधस्त्रिभुवनभवनालोकहस्तप्रदीपः ॥१४६॥

अर्थ—जिन योगियोंके मोक्षलक्ष्मीरूपी नव युवतिके वश करनेकेलिये (वशीकार) मंत्र, और तीनलोकरूपी घरके प्रकाशकरनेवाला 'हाथमें स्थित' दीपक स्वरूप, आत्मप्रबोध प्रकाशमान है वे योगी परम प्रशंसनीय हैं महार्घ हैं ज्ञानवान

और कृतकृत्य हैं तथा उन योगियोंको नम्रता और भक्तिभावसे मैं प्रणामकरता हूं।

संसारकारणशुभाशुभहानिहेतो-
निर्वाणकारणविशुद्धिविवर्धनाय।
सम्यक्रुचिर्कोऽपरितरप्रातिबोधसिद्धि-
मात्मप्रबोधमवगच्छतु शांतयोगी ॥ १४७ ॥

अर्थ-यह आत्मप्रबोध-आत्मज्ञान संसारके कारण शुभ अशुभ कर्मोंका नाश करनेवाला है और मोक्षकी कारण जो विशुद्धि उसका बढ़ानेवाला है इसलिये जो शांत योगी दूसरोंको प्रतिबोध देना चाहता है उसै चाहिये कि वह भलेप्रकार आत्मप्रबोध-आत्मज्ञानको जाने। भावार्थ-जो योगी दयालु हैं-जिनकी यह उत्कट इच्छा है कि हम दूसरोंको प्रतिबोध दें उन्हैं चाहिये कि वे पहिले अपनी आत्माको प्रतिबुद्ध बनावें अर्थात् विना आत्मप्रबोधके दूसरोंको प्रतिबोध देना अशक्य है इस लिये पहिले आत्मप्रबोधका अभ्यास करैं। यह आत्मप्रबोध परम कल्याणकारी है

क्योंकि इससे संसारके कारण शुभ अशुभ कर्मोंका नाश होता है और जिस वि-
शुद्धिसे मोक्षकी प्राप्ति होती है उस विशुद्धिकी भी वृद्धि होती है ॥ १४७ ॥

सिद्धांततर्कपदलक्षणयोगलक्ष्मशास्त्रश्रमादिगुणभूषणभूषितानां ।
संजायते हि गुणिनां मुखमंडनश्रीरात्मप्रबोधतिलकेन विशेषपूर्णा॥

अर्थ–जो महानुभाव सिद्धांत न्याय व्याकरण और योग शास्त्रोंके मनन आदि श्रमसे उत्पन्न हुये गुणरूपी भूषणसे भूषित–गुणी हैं उनके मुखमंडनकी शोभा आत्मप्रबोधरूपी तिलकसे विशेष होती है। भावार्थ-मुखका मंडन करनेपर भी यदि ललाटपर तिलक लगालिया जाय तो शोभा अधिक बढ़जाती है उसीप्रकार अनेक शास्त्रोंमें विद्वान रहनेपर भी जो गुणवान मनुष्य आत्मप्रबोधका पर्यालोचन करते हैं उनकी विद्वत्ता और भी अधिक छटकने लगती है अर्थात् विद्वानोंको अवश्य इस आत्मप्रबोधग्रंथका–पर्यालोचन करना चाहिये ॥ १४८ ॥

श्रीमज्जिनेंद्रचरणाग्रनखोन्मयूखचंद्रोदयाभिमुखचित्तचकोरकेण ।

श्रीमत्कुमारकविनात्मविबोधनार्थमात्मप्रबोधइतिशास्त्रमिदंव्यधायि

इत्यात्मप्रबोधनामाध्यात्मशास्त्रं समाप्तं ।

अर्थ–जिसका चित्तरूपी चकोर जिनेंद्र भगवानके चरणकमलोंके नखकिरणरूपी चद्रमाकी ओर अभिमुख है ऐसे श्रीमान् कुमारकविने अपनी आत्माके संबोधनार्थ इस आत्मप्रबोधग्रंथकी रचना की है। भावार्थ–जिसप्रकार चकोर पक्षीका चंद्रमाके ऊपर गाढ़ प्रेम रहता है उसीप्रकार जिसका भगवान जिनेंद्रके चरणोंमें गाढ़ प्रेम है ऐसे कुमार कविने इस ग्रंथका निर्माण किया है तथा इस श्लोकमें जो 'आत्मविबोधनार्थं' यह पद दिया है उससे यह बतलाया है कि इस ग्रंथके बनानेमें कोई लोभ मान आदि कारण नहीं किंतु मेरी आत्मा किसीप्रकारसे प्रबुद्ध हो जाय इस आशासे ही मैंने यह ग्रंथ बनाया है ॥ १४९ ॥

इस तरह यह आत्मप्रबोध ग्रंथ समाप्त हुआ ।